साहित्य के नये रूप

(साहित्य के नवीनतम रूपों की सैद्धान्तिक मीमाँसा)

•

लेखक

डॉ० श्याम सुन्दर घोष, पी-एच. डी.

•

1969

कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

प्रकाशक :
जयकृष्ण अग्रवाल
कृष्णा ब्रदर्स
कचहरी रोड, अजमेर ।

•

प्रथम संस्करण : फरवरी १९६९

मूल्य : रु० ८-००

•

मुद्रक :
एच. सी. कपूर
टाइम्स प्रिंटिंग प्रेस,
ब्रह्मपुरी अजमेर

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन जी के योग्य

भूमिका

इस पुस्तक के प्रणयन का एक विशेष कारण है। साहित्य के पुराने रूपों के सम्बन्ध में यत्र-तत्र-सर्वत्र ही आलोचकों ने विचार-विमर्श किया है। उनके तात्विक विवेचन से सम्बन्धित विपुल सामग्री यहाँ-वहाँ बिखरी पड़ी है। इस प्रकार उनकी मूलभूत विशेषताएँ स्पष्ट हो चुकी हैं। लेकिन साहित्य के नये रूपों के सम्बन्ध में कुछ जानने के लिये यदि सामान्य पाठक सन्नद्ध होता है, तो उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। काफ़ी खोज-ढूँढ के बाद यदि कहीं उसे नये साहित्य रूपों से सम्बन्धित सामग्री का पता मालूम होता है, और वह उत्सुकता से वहाँ पहुँचता है, तो उसे निराशा ही हाथ लगती है क्योंकि वहाँ उस नये साहित्य-रूप के सम्बन्ध में, जिसे जानने की उसकी प्रबल जिज्ञासा होती है, बड़ी सामान्य सूचना रहती है। बहुधा छः सात पंक्तियों में ही किसी नये साहित्य-रूप की विशेषताओं को बतलाने की चेष्टा की जाती है। सामान्य आलोचना पुस्तक से लेकर साहित्य-कोश तक की यही दशा है। इस अवस्था में नितांत नये साहित्य रूपों के सम्बन्ध में विस्तार से कुछ लिखना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार के प्रारम्भिक प्रयास में एक कठिनाई रहती है। विषय से सम्बन्धित सामग्री के न होने से लेखक को मुख्यतः अपनी समझ और धारणा पर निर्भर रहना पड़ता है। यह कठिनाई तब और बढ़ जाती है जब यह तथ्य सामने आता है कि ये नये साहित्य-रूप अभी बनने के क्रम में हैं। इस प्रकार जहाँ साहित्य के इन नये-रूपों के विवेचन में मौलिकता दर्शाने का अवसर रहता है वहाँ इसके लिये भी तैयार रहना पड़ता है कि व्यक्त मत की आलोचना-प्रत्यालोचना हो। विवेचक की सारी बातें स्वीकृत होंगी ही, यह इन पंक्तियों का लेखक भी नहीं सोचता। इन विवेचनों में नये साहित्य-रूपों में हुए परिवर्तनों के अनुसार संशोधन होता चलेगा, इस तथ्य से इन पंक्तियों का लेखक अवगत है।

नये साहित्य रूपों में ऐसे कितने ही साहित्य रूप है जिनका विकास वर्तमान काल अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के बाद हुआ है—जैसे व्यक्तिगत निबंध, एकांकी, कहानी आदि। लेकिन इस पुस्तक में जान-बूझ कर उनका विवेचन नहीं किया गया है क्योंकि तत्सम्बन्धी विवेचन अन्यत्र विपुल परिमाण में

उपलब्ध हैं। मैंने तो उन्हीं साहित्य-रूपों के सम्बन्ध में विचार करने की चेष्टा की है जो अपेक्षाकृत आलोचकों की निगाह में कम आये हैं। या यदि उन पर आलोचकों की दृष्टि गई भी है तो उसे संक्षिप्त रूप से वर्णित करके ही रह गये है। उनके विचारों में भी कई जगह मुझे संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई है।

परिशिष्ट में जो रचनाए उदाहरण स्वरूप दी गई हैं उन्हें देखकर कोई यह न समझे कि लेखक अपने को इन सभी साहित्य रूपों का सफल लेखक मानता है, या ये रचनाएँ विवेचन की कसौटी पर एकदम खरी उतरती हैं। इन्हें संकलित करने का एकमात्र कारण संकलन जन्य सुविधा है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों का यह हाल है कि दस पत्र लिखने के बाद एक का जवाब आता है, और वह भी सन्तोषजनक नहीं, इस दिशा में वे उदाहरण के लिये रचनाएँ संकलित करने की अनुमति देंगे ऐसा सोचना दुराशा मात्र है। इसलिये अपनी ही कुछ रचनाएँ परिशिष्ट में दे दी गई हैं। ऐसा करने से यदि सम्बन्धित साहित्य-रूप की एक झलक मात्र भी मिल सके तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा। जिन साहित्य रूपों के उदाहरण दिये जाने सम्भव न थे, जैसे आंचलिक उपन्यास, नये उपन्यास, लघु उपन्यास आदि, उनसे सम्बन्धित लेख समीक्षादि-प्रस्तुत करके यह काम करने का प्रयास किया गया है। फिर भी बहुत से उदाहरण छूट गये हैं, आशा है पाठक वर्ग त्रुटियों की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करेंगे।

श्याम सुन्दर घोष

क्रम

•

—

साहित्य के नये रूप

•

साहित्य गतिशील जीवन और समाज का जीवंत चित्र है। इसके माध्यम से हम व्यक्ति की आन्तरिक सत्ता एवं उसके फैले परिवेश का सूक्ष्म और व्यापक बोध प्राप्त करते हैं। इस रूप में जीवन और जाति एवं उसके विभिन्न क्रिया-कलाप साहित्य-सृजन की प्रेरणा के मूलाधार हैं। जिस प्रकार एक ही भूमि-खंड पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ उगती हैं, फूल खिलते हैं और कलियाँ मुस्कराती हैं, उसी प्रकार एक ही जीवन और जगत के विभिन्न भाव-संवेदनों, क्रिया-कलापों और गंधों-गतियों को स्पष्ट करने के लिये साहित्य में नित नवीन विधाएँ जन्म लेती हैं। इस रूप में साहित्य की विधाएँ अनुभूत सत्य का बाहरी रूप हैं जो हमारी प्रतीति को स्पष्ट और साकार करते हैं। जिस प्रकार मनुष्य का हँसना और मुस्कराना उसकी प्रसन्नता और आह्लाद प्रकट करते हैं और रोना और विसूरना उसका दुःख और शोक, उसी प्रकार विभिन्न साहित्य-रूप मानव मन के विभिन्न भावों को प्रकट करने के साधन हैं। जिस प्रकार लौकिक जगत में मनुष्य का रुदन उसके शोक और विषाद को स्पष्ट करता है उसी प्रकार कवि-हृदय का दुःख और शोक शोकगीति (एलीजी) के माध्यम से व्यक्त होता है।

यदि मनुष्य हँसना-मुस्कराना और रोना-विसूरना न जाने तो उसके हृदय के हर्ष और विषाद का पता लोगों को मुश्किल से मालूम हो। ठीक इसी प्रकार साहित्यकार के संवेदनशील मन में जो भाव और संवेग उदित होते हैं वे भी अपनी अभिव्यक्ति के लिये कोई न कोई प्रकार चाहते हैं। जब भाषा का सहारा लेकर इस ढंग का कोई प्रकार (Form) निश्चित किया जाता है तो वही साहित्य-रूप कहलाता है। जाहिर है कि भावों और संवेगों के अनुसार ये साहित्य-रूप अलग-अलग ढंग के होंगे। जिस प्रकार प्रसन्नता प्रकट करने के लिये हँसना, मुस्कराना, गुनगुनाना या ऐसे ही क्रिया-कलाप आवश्यक हैं, ठीक उसी प्रकार विशेष प्रकार के भावों और मनः स्थितियों को उसकी परिपूर्णता में ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिये विशेष प्रकार के साहित्य-रूपों की आवश्यकता होती है। वैसे कभी-कभी प्रसन्नता रोकर भी प्रकट की जाती है और इस न्याय के अनुसार किसी साहित्य-रूप से

उसके विरोधी भाव भी प्रकट किये जा सकते हैं लेकिन ऐसे दृष्टान्त कम ही मिलते हैं। मूल रूप से विशेष साहित्य-रूप विशेष प्रकार की प्रतीतियों को ही स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के लिये उपन्यास में व्यक्त किये जाने वाले भाव और विचार काव्य, नाटक या निबन्ध में व्यक्त नहीं हो सकते।

साहित्य में नये रूपों का आगमन

साहित्य में नये रूपों का आगमन यों ही नहीं होता, उसके पीछे कुछ निश्चित कारण होते हैं। जिस प्रकार आनन-फानन में, या देखा-देखी के कारण, फैशन बदलते हैं उस प्रकार साहित्य की विधाएँ नहीं बदलतीं। यदि ऐसी बात होती तो सभी साहित्यों में सभी प्रकार की साहित्य-विधाएँ सरलता से देखी जा सकतीं—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अंग्रेजी पोशाक का प्रचलन सभी देशों में देखा जा सकता है। लेकिन हम जानते हैं कि साहित्य-रूपों का स्वीकरण या पोषण इस ढंग से नहीं होता।

किसी भी देश के साहित्य में नवीन साहित्य-विधाओं का जन्म तब होता है जब कि उस देश का साहित्य नवीन भाव-संवेदनों से आन्दोलित होने लगता है। जब ये नवीन भाव-संवेदन प्रचलित साहित्य-रूपों से प्रभावशाली ढंग से व्यक्त नहीं हो पाते तो इनको ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिये साहित्यकार नवीन साहित्य-रूपों की तलाश करता है। लेकिन यह काम जितना सरल दीखता है उतना सरल है नहीं। बहुधा इसके लिये कलाकारों को वर्षों की साधना करनी होती है। यदि भाव-संवेदन अत्यन्त जटिल और दुरुह हुआ तो इसके लिये पीढ़ियों या समूहों की साधना की जरूरत पड़ सकती है। इस रूप में साहित्य के नये रूप जातीय-जीवन की नवीन आकांक्षाओं के परिचायक होते हैं।

जिस प्रकार गीली लकड़ी काफी धुँआ दे चुकने पर लपट पैदा करती है और हम उसे देखते हैं और उसकी गर्मी महसूस करते हैं उसी प्रकार कोई नवीन साहित्य-रूप बहुत से जातीय संवेदनों और भाव-विकारों को बाँधता-समेटता बड़ी जद्दोजहद करता हुआ हमारे सामने आता है। रूप ग्रहण करने की यह प्रक्रिया लेखक के व्यक्तित्व के अन्तर्गत घटित होती है। वही इसका एक मात्र साक्षी और भोक्ता होता है। इस क्रम में यह भी कहा जा सकता है कि कुछ नवीन साहित्य-रूप नवीन भाव-संवेदनों के साथ उसी प्रकार लिपटे चले आते हैं जैसे गंध के साथ भँवरा। लेकिन अनायास भाव से उत्पन्न ऐसे साहित्य-रूपों को भी धो-पोंछ कर चमकाना पड़ता है। बहुधा यह काम पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है।

किसी साहित्य में यदि कोई नवीन साहित्य-रूप नहीं है तो इसका अर्थ है कि उस साहित्य-रूप को सम्भव बनाने वाले जो भाव-संवेदन हैं उसका उस साहित्य के पढ़ने वालों में अभाव है उदाहरण के लिये यदि किसी साहित्य में उत्कृष्ट यात्रा वर्णन की पुस्तकें नहीं है तो इसका कारण यही हो सकता है कि उस साहित्य के अध्येताओं में यात्राभिरुचि का अभाव है। रुचि के इस अभाव के कारण ही एक नया साहित्य-रूप नहीं फूल-फल पाता। अब इस अभाव की पूर्ति इस प्रकार नहीं हो सकती कि सौ-पचास लेखक यात्रा-साहित्य लिखने का संकल्प लेकर देश-विदेश की सैर को निकलें और लौट कर उत्कृष्ट यात्रा-साहित्य लिख डालें। इस रूप में किसी साहित्य-रूप को अपनाना और अपने बीच प्रतिष्ठित कर, उसे उच्च साहित्यिक स्तर देना, आसान नहीं है। साहित्य में उत्कृष्ट यात्रा-वर्णन तो तभी लिखे जा सकेंगे जब यात्राभिरुचि जातीय जीवन की विशेषता हो जायेगी। नये-नये लोगों के बीच जाना, उनके रहन-सहन, रीति-रिवाजों और भावों-संवेगों से परिचित होना, नये-नये प्रसंगों और घटनाओं के प्रति अभिरुचि और आग्रह, नदी-नालों, जंगलों-पर्वतों, रेगिस्तानों और बन्दरगाहों के प्रति अटूट जिज्ञासा, जब तक ये बातें जातीय जीवन के अंग नहीं बन जाते तब तक किसी एक लेखक या लेखक-समूह के अविराम प्रयत्न किये जाने पर भी साहित्य में यात्रा-साहित्य नवीन साहित्य-विधा के रूप में मान्यता नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिये किसी साहित्य के नवीन-साहित्य-रूपों की चर्चा उस साहित्य के नवीन भाव-बोधों की चर्चा है। इन भाव-बोधों से देश के जातीय जीवन की विविध दशाओं का परिज्ञान होता है।

विधाएँ नयी बनाम पुरानी

नयी साहित्य-विधाओं से हमारा क्या तात्पर्य है? क्या इस 'नयी' विशेषण में अतिव्याप्ति दोष नहीं है? पुरानी विधाएँ क्या एक समय नयी विधाएँ नहीं थीं या कि आज की जो नयी विधाएँ हैं वे कालान्तर में पुरानी नहीं हो जायेंगी? इस रूप में नयी साहित्य-विधाओं की चर्चा साहित्य के नव्यतम विकास की चर्चा है।

एक समय था जब कि आज के अधिकांश लोकप्रिय साहित्य-रूप नितान्त नये समझे जाते थे जैसे उपन्यास, कहानी, एकांकी, निबन्ध आदि। लेकिन आज जब साहित्य की नवीन विधाओं की चर्चा होती है तो लोग उपन्यास, कहानी और निबंध आदि का नाम नहीं लेते वरन् रिपोर्ताज, डायरी, मोनोलॉग, रेडियो नाटक, फ़ैंटेसी, लघु उपन्यास आदि की चर्चा करते हैं। तो

क्या पहले के साहित्य-रूप, उपन्यास कहानी आदि, एकदम पुराने पड़ गये ? इसका उत्तर ज़रा सोचकर और सतर्कता से देना होगा।

यह ठीक है कि उपन्यासों और कहानियों को जन्मे पूरा एक युग हो गया। अब बहुत से ऐसे उपन्यास नहीं लिखे जाते जो पहले बहुतायत से लिखे जाते थे और पाठकों द्वारा रुचि पूर्वक पढ़े जाते थे। ऐसे उपन्यास एक पुरानी साहित्य-विधा के प्रतीक कहे जा सकते हैं। लेकिन उपन्यासों के जो नित नये रूप, नये से नये शिल्प और प्रयोगों के साथ, हमारे सामने आ रहे हैं उनके बारे में क्या कहा जायगा ? देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास पुराने साहित्य-रूप हैं लेकिन देवेन्द्र सत्यार्थी, फणीश्वर नाथ रेणु, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यासों के बारे में क्या कहा जायगा ? क्या इनके उपन्यास नवीन साहित्य-रूप के अन्तर्गत नहीं हैं ? इस दृष्टि से यह कहना समीचीन है कि कोई साहित्य-रूप सहज ही पुराना नहीं हो जाता। जब तक उसमें लचीलापन बना रहता है, स्थिति-स्थापकता रहती है, नवीन भाव-संवेदनों को वह अपने में समेट सकता है और उनकी प्रभावशाली अभिव्यक्ति कर सकता है, तब तक वह पुराना नहीं माना जाता। इस रूप में पुरानी साहित्य-विधाएँ भी अपने नयेपन के कारण नयी साहित्य-विधाएँ हैं। लेकिन जब पुराने साहित्य-रूप इतने रूढ़ हो जायँ कि उनमें नवीन भाव-बोध को कारगर ढंग से व्यक्त करने की शक्ति ही नहीं रहे, तो उसकी गणना नये साहित्य-रूपों में नहीं होगी। इस रूप में कुछ साहित्य-विधाएँ अपना ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण रखते हुए भी पूर्णतः इतिहास की चीज होकर रह जायेंगी जैसे महाकाव्य या संस्कृत के नाटकों के अनेक प्रकार।

इसके बाद आते हैं वे साहित्य-रूप जो नये तो होते हैं लेकिन जिनके नयेपन को इतिहास सहज ही सिद्ध नहीं होने देता। उदाहरण के लिये हम यात्रा-साहित्य को ले सकते हैं। आज जैसे यात्रा-साहित्य लिखे जाते हैं वे नये साहित्य-रूप के अन्तर्गत परिगण्य हैं। लेकिन यदि सुदूर इतिहास की ओर दृष्टि डालें तो प्राचीन वाङ्मय में भी यत्र-तत्र यात्रा-साहित्य के उदाहरण उपलब्ध हो सकते हैं। इस प्रकार यात्रा-साहित्य को नितान्त नवीन साहित्य-विधा किस प्रकार कहा जा सकता है ? लेकिन इनका नवीनता का दावा कुछ अंश में उचित भी है क्योंकि प्राचीन यात्रा-वर्णनों और आज के यात्रा-साहित्य में कुछ इतना स्वरूपगत और प्रकृतिगत भेद है कि दोनों की कड़िया आसानी से नहीं जुड़ पातीं। साहित्यिक स्तर पर इनका लेखन और

स्वरूप-निर्धारण आधुनिक युग में ही सम्भव हो पाया। इस प्रकार यह कहना समीचीन है कि ऐसे साहित्य-रूप पुराने होने पर भी नये ही माने जायेंगे।

इसके वाद उन साहित्यरूपों की चर्चा की जा सकती है जो सही माने में साहित्य के नये रूप हैं, जिनका उल्लेख न तो इतिहास में है और न उनके स्वरूप से मिलता-जुलता कोई अन्य साहित्य-रूप सुदूर अतीत में उपलब्ध होता है। इस रूप में ये नितान्त सम-सामयिक उपलब्धि हैं। ऐसे नवीन साहित्य-रूपों का आविर्भाव वहुधा इस कारण सम्भव हो पाता है कि जाग्रत कलाकार की नयी भाव-संवेदना न तो पहले के किसी साहित्य-रूप से ठीक-ठीक व्यक्त हो पाती है और न उनमें कुछ काट-छाँट कर या नया प्रयोग कर, उन्हें अपने कथ्य की अभिव्यक्ति के अनुकूल वनाया जा सकता है। इस दशा में कलाकारों को नितान्त नये साहित्य-रूप गढ़ने पड़ते हैं।

नवीन साहित्य-रूपों का रूप-गठन कई प्रकार से सम्भव हो पाता है। उदाहरण के लिये हम पहले उन साहित्य-रूपों को लें जो किसी कलाकार की अनुसंधित्सा के कारण सम्भव हो पाते हैं जैसे सॉनेट या रिपोर्ताज। यह ठीक है कि सॉनेट का प्रचलन तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। लेकिन सोलहवीं शताब्दी तक इसका प्रयोग अपेक्षाकृत सीमित रहा। इस साहित्य-रूप को सवसे पहले इतालवी के कवि पेट्रार्क ने एक सशक्त काव्य-माध्यम का रूप देने का निश्चय किया। इस प्रकार सॉनेट के प्रचार-प्रसार का श्रेय पेट्रार्क को मिला।

इसके वाद वे नये साहित्य-रूप आते हैं जो सामान्य व्यवहार-शैली के रूप में जन-जीवन या शिक्षित-समाज में पहले से ही प्रचलित होते हैं, लेकिन एक साहित्यिक माध्यम के रूप में उनकी सम्भावना से लोग परिचित नहीं रहते। ऐसी सामान्य अभिव्यक्ति-शैलियों को ग्रहण करके कलाकार उसे साहित्य का रूप-रंग देता है जैसे डायरी। दैनन्दिन जीवन का लेखा-जोखा रखने वाले डायरी-लेखन से परिचित हैं, लेकिन इससे साहित्यिक अभिव्यक्ति भी सम्भव है, यह वहुत पहले नहीं सोचा जाता था। लेकिन अव के प्रयोग-शील कलाकार इसका इस रूप में उपयोग करने लगे हैं और यह एक नवीन साहित्य-विधा के रूप में स्वीकृत हो चुका है।

इनके वाद उन साहित्य-रूपों की चर्चा करना समीचीन है जिनका स्वरूप गठन अधुनातन आविष्कारों के कारण सम्भव हुआ। जैसे रेडियो-नाटक। रेडियो के अभाव में हम इस साहित्य-विधा की कल्पना भी नहीं कर सकते। रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटकों में दृश्य-गुण की प्रधानता होती

है। लेकिन रेडियो-नाटक के लिए यह आवश्यक नहीं है। उसमें तो श्रव्य गुण होने चाहिए। इसलिए रेडियो-नाटक सामान्य नाटकों से भिन्न एक नया साहित्य-रूप है जिनका अस्तित्व रेडियो के प्रचार-प्रसार के कारण सम्भव हुआ है।

इन सभी नवीन साहित्य-रूपों का गठन एक अनिवार्य भावनात्मक दवाव के कारण सम्भव होता है। जिस प्रकार भू-गर्भ में छिपी उष्ण जलधारा अपने निष्क्रमण के लिए उपयुक्त मार्ग ढूँढ़ लेती है और सोता या निर्झर या निर्झरिनी के रूप में फूट पड़ती है उसी प्रकार विशेष प्रकार का भाव-विकार विशेष प्रकार की शैली में व्यक्त होने को आकुल रहता है।

हिन्दी-साहित्य : साहित्य की नयी विधाएँ

हिन्दी-साहित्य में नयी विधाओं का आगमन आधुनिक युग के साथ हुआ। भारतेन्दु-युग में हिन्दी गद्य-साहित्य की नींव पड़ी और गद्य के माध्यम से कई नवीन साहित्य-रूप सामने आये। लेकिन इस युग में नाटकों और निबंधों का जैसा विकास हुआ वैसा और किसी साहित्य-रूप का नहीं हो सका। उपन्यास इस युग में कई लिखे गये और श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' भी, जिसे शुक्ल जी ने हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना; इसी युग में लिखा गया लेकिन वास्तव में एक नवीन साहित्य-रूप की दृष्टि से उपन्यास का विकास प्रेमचन्द-युग में ही सम्भव हो सका। कहानियाँ भारतेन्दु-युग में कुछ लिखी गईं, लेकिन उनका रूप अव्यवस्थित रहा। यह साहित्य-रूप बाद में चलकर 'इन्दु' और 'सरस्वती' के माध्यम से अपना प्रकृत रूप पा सका।

नयी विधाओं की दृष्टि से हिन्दी का छायावाद युग सबसे उर्वर प्रमाणित हुआ। क्या गद्य में और क्या पद्य में, नयी-नयी विधाएँ सामने आईं। छायावादी कवियों ने कई नवीन काव्य-रूपों का प्रयोग किया जैसे सॉनेट, सम्बोधन गीत (ओड) शोक-गीत, गजल, रुबाइयाँ आदि। इसी समय गद्य में रामचन्द्र शुक्ल ने मनोविकारों को आधार बनाकर उच्चकोटि के व्यक्तिगत निबंध लिखे। इसी समय संस्मरण, शब्द-चित्र, यात्रा-साहित्य, शिकार-साहित्य, इण्टरव्यू, रिपोर्ताज़, लघुकथा, गद्य-गीत, जीवनी आदि का लिखा जाना प्रारम्भ हुआ। महादेवी वर्मा ने 'स्मृति की रेखाएँ' और 'अतीत के चलचित्र' में शब्द-चित्रों और संस्मरण का नया रूप स्थिर किया। इस दिशा में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी और रामवृक्ष बेनीपुरी आदि ने भी काम किया। श्रीराम शर्मा ने जिम कार्बेट आदि शिकार साहित्य के प्रणेताओं से प्रेरणा लेकर हिन्दी का अपना शिकार-साहित्य प्रस्तुत किया। इसी समय कई राजनेताओं

और साहित्यकारों ने अपनी आत्माकथाएं लिखीं—जैसे गाँधी जी, राजेन्द्र बाबू, जवाहरलाल नेहरू और वियोगी हरि जी ने। इसी अवधि में श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने जयप्रकाश नारायण आदि की जीवनियां लिखीं। बाद में महा-पंडित राहुल सांकृत्यायन ने स्तालिन आदि विश्व-पुरुषों की जीवनियाँ लिखीं। यातायात की सुविधा और समुद्र-यात्रा का निषेध खत्म होने से हिन्दी के कई लेखक देश-विदेश गये और वहां से लौटकर उन्होंने यात्रा-पुस्तकें लिखीं। कुछ लेखकों ने देश के बीहड़ और दुर्गम स्थानों, जैसे कैलाश, मानसरोवर आदि की यात्रा की और लौटकर पुस्तकें लिखीं। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त और बीसवीं शती का प्रारम्भ हिन्दी-साहित्य के लिए सक्रियता का युग है। लगता है, हिन्दी के लेखक जीवन और जगत को आँखें खोलकर देख रहे हैं और जहाँ जो नवीन भाव-बोध उपलब्ध हो रहे हैं उन्हें नई शैली और नये रूपों में व्यक्त करना चाहते हैं।

साहित्य की नयी-नयी विधाओं की खोज-ढूँढ़ आगे भी अनवरत रूप से चलती रही। जब सोवियत संघ में रिपोर्ताज़ों को एक नयी साहित्य-विधा के रूप में मान्यता मिली तो इस साहित्य-रूप के प्रति यहाँ के लेखक भी आकृष्ट हुए। महायुद्ध के बाद की परिस्थितियाँ इस साहित्य-रूप के विकास के लिये उपयुक्त सिद्ध हुईं। फलस्वरूप रांगेय राघव, अमृतराय आदि कई प्रगतिशील लेखक इस साहित्य-रूप को समृद्ध करने में जुटे। इसी समय रेडियो के प्रचार-प्रसार के कारण रेडियो-नाटक लिखे जाने शुरू हुए। इसके पहले ही स्टेज एकांकियों का बोलबाला हुआ था। रंगमंच के धीमे विकास के साथ इसमें विकास-गति की जो मंथरता थी वह रेडियो के प्रचार-प्रसार के कारण द्रुत हो गई। यही समय है जब कि प्रभाकर माचवे और त्रिलोचन शास्त्री ने उच्चकोटि के सॉनेट लिखे। उदयशंकर भट्ट ने भावनाट्य और गीतिनाट्य लिखे। 'प्रतीक' में 'बारहखम्भा', एक सहयोगी उपन्यास लिखे जाने का आयोजन हुआ। बाद में सहयोगी उपान्यास के रूप में 'ग्यारह सपनों का देश' और 'एक इंच मुस्कान' की रचना हुई। इसी समय निराला द्वारा प्रवर्तित हास्य-व्यंग्य की परम्परा आगे बढ़ी। नागार्जुन, भारतभूषण अग्रवाल और प्रभाकर माचवे आदि ने उसको नया रूप दिया। इसी समय नयी साहित्य-विधा के रूप में आंचलिक उपन्यासों का श्रीगणेश हुआ; यद्यपि आचार्य शिवपूजन सहाय 'देहाती दुनिया' के रूप में हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास लिख चुके थे और नागर्जुन ने 'बलचनमा' में यह परम्परा आगे बढ़ाई थी तथापि 'मैला आँचल' के प्रकाशन के बाद ही पाठकों और आलोचकों का ध्यान इस साहित्य-रूप की ओर आकृष्ट हुआ। फिर तो शैलेश मटियानी, हिमांशु

श्रीवास्तव, आदि कई लेखक इस ओर आकृष्ट हुये। स्वाधीनता के वाद हिन्दी के हास्य-व्यंग्य साहित्य का भी प्रभूत विकास हुआ। केशवचन्द्र वर्मा, हरिशंकर पारसाई, गोपाल प्रसाद व्यास, चिरंजीत आदि कितने ही लेखक नित नये रूप-रंग के साथ सामने आये। इसी समय डा० धर्मवीर भारती और शमशेर बहादुरसिंह आदि ने डायरी लेखन का नया साहित्यिक स्तर कायम किया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का आधुनिक युग साहित्य की नई विधाओं के प्रयोग और अन्वेषण का युग है। हिन्दी के नये पुराने लेखक आये दिन कितने ही भावों और संवेगों से आन्दोलित हो रहे हैं। अपने इन भाव-विकारों को वे नाना प्रकार की शैलियों और साहित्य-विधाओं के माध्यम से प्रकट कर रहे हैं।

आंचलिक उपन्यास

•

आंचलिकता साहित्य के लिये कोई नितान्त नयी प्रवृति नहीं है, और न इसे उपन्यास या कहानी तक सीमित किया जा सकता है। कविता में भी यह प्रवृत्ति बड़ी स्पष्टता के साथ देखी जा सकती है। "पिछले दिनों के अंग्रेजी काव्य में हम कुछ नयी प्रवृत्तियों का विकास देखते हैं। इनमें से एक प्रवृत्ति बोलियों के काव्य की अथवा बोलियों से प्रभावित काव्य की है। इसे हम आंचलिक काव्य कह सकते हैं। वेल्स के अनेक तरूण कवियों ने स्थानीय शब्दों और मुहावरों के प्रयोग से अंग्रेजी काव्य-भाषा में नवीनता लाने का प्रयत्न किया है, जैसे वर्नन वेटकिंस, केडरे रिहस और एलन लैविस ने।"[१] यह प्रवृत्ति हिन्दी में भी देखी जा सकती है। प्रो० रामसंजीवन सिंह और श्री ठाकुरप्रसाद सिंह ने आदिवासी शब्दों, भावों और कथानकों के योग से जो काव्य रचा है, उसे बिना किसी वाद-विवाद के आंचलिक काव्य कहा जा सकता है।[२]

आँचलिकता अन्ततः यथार्थवाद का ही चरम विकास है, ऐसा मान लिया जा सकता है, क्योंकि आलोचकों ने प्रायः माना है कि "आंचलिक उपन्यासों के सृजन में जो मनोवृत्ति काम करती है वह रोमांटिक कल्पनाशील नहीं होगी, अपनी कल्पना के पर को फैलाकर गगन-विहारी पक्षी की नहीं होगी, जमीन की सतह पर धूलि फांकते हुए चलने वाले पदचारियों की होगी।[३] अंग्रेजी के आंचलिक उपन्यासकारों के कथनों का हवाला देकर इसी बात की पुष्टि की गई है। शारलेट ब्रौन्टे ने अपने आंचलिक उपन्यास शर्ले की प्रारम्भिक पंक्तियों में कहा है—*If you think that something like a* Romance is preparing for you, reader, you never were more

---

१. देखिये आधुनिक पश्चिमी काव्य, आलोचना २१. ले. डा० रामरतन भटनागर पृ० ४० ।

२. देखिये ठाकुरप्रसाद सिंह का काव्य संकलन 'वंशी और मादल' और प्रो० रामसंजीवन सिंह का काव्य 'वनफूल' ।

३. डा. देवराज उपाध्याय : कथा के तत्व, पृ० १८३ ।

mistaken, Calm your expectations, something real, cool and solid lies before you, something as unromantic as monday morning. इस उद्धरण से सिद्ध है कि आंचलिक उपन्यासों में रोमांस की तुलना में यथार्थ ही प्रबल होता है।

यथार्थवाद में यह मत प्रतिपादित किया गया कि वस्तु का यथातथ्य वर्णन होना चाहिये, भाषा में प्रामाणिकता और यथार्थता होनी चाहिये। आंचलिकता के विकास पर इसका भी अभीष्ट प्रभाव पड़ा। स्थान, काल और पात्र के सही वर्णन के क्रम में विशेष सतर्कता बरतने के कारण ही आंचलिकता का विकास सम्भव हो सका।

यथार्थवाद के अतिरिक्त, मूर्त्तिमता के सिद्धान्त ने भी आंचलिकता के विकास में आवश्यक योग दिया। कहा गया कि काव्य में अर्थ-ग्रहण से काम नहीं चलता, बिम्ब-ग्रहण अपेक्षित है। लेकिन, यह शर्त मात्र काव्य के लिये ही अनिवार्य न रहकर रचनात्मक साहित्य मात्र के लिये अनिवार्य हो गयी। बिम्ब अथवा मूर्तिमता की इस अनिवार्यता ने भी आंचलिकता को सबल और सुस्थ किया। इस प्रकार इसने एक ओर तो यथार्थ के आग्रह के कारण वस्तुतत्व का विकास किया दूसरी ओर मूर्तिमत्ता के सैद्धान्तिक आग्रह के कारण शिल्प का नवीन आयाम प्रस्तुत किया। इसलिये आंचलिक उपन्यासों की यह सामान्य विशेषता रही कि उनमें सामान्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक यथार्थता और मूर्तिमत्ता रही।

ऊपर आंचलिक उपान्यासों की रोमांसहीनता का उल्लेख किया गया है, पर हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के सन्दर्भ में यथार्थतः बात ऐसी है नहीं, क्योंकि स्वयं यथार्थ भी पूर्णतः रोमांसहीन नहीं है। यथार्थ और रोमांस उतने अलग हैं नहीं, जितने समझे जाते हैं। यथार्थ के बीच रोमांस और रोमांस की बीच यथार्थ निहित हो सकता है। लेकिन, जब हम रोमांस का अतिवादी रूप लेते हैं, तो वह निश्चय ही यथार्थवादी उपन्यासों, और इस नाते आंचलिक उपन्यासों, का लक्ष्य नहीं हो सकता। जीवन की यथार्थता के बीच जो सरल-सहज रोमांस फूट पड़ता है, उससे कोई यथार्थवादी या आंचलिक कृति कैसे दूर रह सकती है?

आंचलिकता को साधारणतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला उसका सरल-सहज-स्वाभाविक रूप, दूसरा उसका उग्र अथवा स्फीत रूप। अपने सरल-सहज रूप में आँचलिकता साहित्य में यथार्थवाद के साथ ही प्रतिफलित होने लगी। यदि उदाहरण की आवश्यकता अनुभव की

जाय, तो गुलेरी जी की कहानी 'उसने कहा था' के प्रारम्भिक अंश का उल्लेख किया जा सकता है। वहां वर्णन की जो यथार्थता है वह आंचलिकता ही है। आंचलिकता का यह रूप अब भी वृन्दावन लाल वर्मा जैसे कई लेखकों में पाया जाता है।

आँचलिकता के द्वितीय रूप का विकास अपेक्षाकृत नया है। बंगला और अंग्रेजी के उपन्यासों को दृष्टिपथ में रखकर विचार करने पर स्पष्ट होता है कि हिन्दी पर उनका भी थोड़ा सा प्रभाव है। यों शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' में आंचलिकता का यह स्फीत रूप स्पष्ट है और वह अंग्रेजी और बंगला के प्रभावों से अछूता होने के कारण हिन्दी का स्वाभाविक रिक्थ कहा जा सकता है। अंग्रेजी में टामस हार्डी, शार्लेट ब्रोन्टि, जार्ज इलियट तथा आर्नेल्ड वैनेट आदि में आंचलिकता की प्रवृत्ति बड़ी स्पष्ट है। अधुनातन अंग्रेजी अमरीकी उपन्यासकारों ने स्थानिक के प्रयोगों से इसी प्रवृत्ति का विकास किया है।

बंगला में आंचलिकता अपेक्षाकृत देर से प्रतिफलित हुई, रवीन्द्र-शरत के बाद, विशेषकर ताराशंकर बनर्जी के साथ-साथ, फिर तो मानिक बन्दोपाध्याय सतीनाथ भादुड़ी जैसे लेखकों ने इसका पूरा विकास किया। बंगला की तुलना में हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता बहुत बाद में, बंगला की देखा-देखी आई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऊपर शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' का उल्लेख हो चुका है। और दूसरे लेखकों का ध्यान भी इस ओर गया, पर इसका कोई स्पष्ट रूप-रंग नहीं बन सका। यह तो बाद में देवेन्द्र सत्यार्थी. नागार्जुन, अमृतलाल नागर, फणीश्वर नाथ रेणु, उदयशंकर भट्ट, बलभद्र ठाकुर, हिमांशु श्रीवास्तव, योगेन्द्रनाथ सिन्हा, वीरेन्द्र नारायण, मार्कण्डेय, केशव प्रसाद मिश्र, शिवप्रसाद सिंह, कृष्णा सोवती आदि के कारण सम्भव हो सका।

आँचलिकता का सार्वभौमिकता से विरोध भी हो सकता है। यह विरोध कृति में घटित न हो, इसके लिये कथाकार को सचेष्ट रहना है। स्थानिकता के सीमित परिवेश के माध्यम से मानव जीवन की अनन्तता, निगूढता और शाश्वतता व्यक्त हो सके, यही आंचलिक कृतियों का अभीष्ट होना चाहिये। उदाहरण के लिये अंग्रेजी उपन्यासकार टामस हार्डी को लिया जा सकता है। वेसेक्स की भूमि और पात्रों के माध्यम से वह जो कथाजाल बुनता है, वह मात्र एक स्थल विशेष की कथा नहीं है, उसमें मानव भावों की निर्बाध–निगूढ़ अभिव्यक्ति होती है। इस सम्बन्ध में डा० देवराज उपाध्याय का यह कहना

प्राय: ठीक ही है कि "अंग्रेजी में आंचलिक उपन्यासकारों की कमी नहीं, पर उनमें शायद ही कोई मिले जिनके थीम भी पूर्णतया आंचलिक हों, अर्थात् ऐसे हों मानो आधारभूत अंचल की भौगोलिक विशिष्टताओं की ही उपज हों, और कुछ नहीं। ·········कदाचित् उपन्यास को इतने गाढ़े आंचलिक रंग से रंग देना कि वह विश्व से होकर आनेवाली किरणों का प्रवेश निषिद्ध करने लगे, यह कला के हाथ से एक बहुत बड़े प्रभाव के साधन को छीन लेना है।"[४] डा० उपाध्याय के मतानुसार आंचलिक कृतियों से वह आनन्द प्राप्त होना चाहिये जिसकी उपलब्धि एक छिद्र से होकर बाह्य विश्व पर दृष्टि दौड़ाने से होती है। जिस प्रकार एक छोटे छिद्र द्वार से समस्त संसार को देखने का यत्न सम्भव है, उसी प्रकार आंचलिक उपन्यासों के माध्यम से स्थान, काल और पात्र से मुक्त मानव जीवन का निर्बाध चित्रण ही अभीष्ट है। ऐसा होने पर ही आंचलिक कृतियाँ स्थायित्व और गौरव प्राप्त कर सकती हैं अन्यथा वे एक स्थान विशेष की तस्वीर मात्र होकर रह जायेंगी, जिनमें आंशिक सत्य की झलक भले ही मिले, वह शक्ति नहीं मिल सकती जिसके बल पर कृतियाँ काल के दुर्धर्ष प्रहारों को सहकर भी जीवित बनी रहती हैं।[५]

आंचलिक कृतियों के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उनका अनुवाद साधारणत: सम्भव नहीं होता। यदि होता भी है तो अनुवाद कृतियों के मूल सौन्दर्य से प्राय: वंचित रह जाता है। इसका कारण सम्भवत: यह है कि आँचलिक कृतियों में स्थानीय शब्दों, मुहावरों और वाक्यावलियों के अत्यधिक प्रयोग से जो चमत्कार उत्पन्न किया जाता है, वह अनुवाद में पीछे छूट जाता है। वहां तो कृति का शुद्ध और सार भाग ही प्रेषित होता है। यदि उस शुद्ध और सार भाग में शक्ति और सौन्दर्य नहीं है तो कृति प्रभविष्णु नहीं होगी। इस बात को ध्यान में रखते हुए आंचलिक कथाकारों को बार-बार यह चेतावनी देने की आवश्यकता है कि "स्थानीय बोलियों के शब्दों के प्रयोग

---

४. कथा के तत्व, डा० देवराज उपाध्याय पृ० १८३।

५. वही इस सम्बन्ध में मानविकी पारिभाषिक कोश में आंचलिकता पर विचार करते हुए कहा गया है—भाषा का व्यवधान पाठक के रस ग्रहण में बाधक हो सकता है किन्तु उसके लिये हार्डी जैसे लेखकों ने दिशा-निर्देश कर दिया है कि उनका जोर भाषा की विशेषता दरसाने पर नहीं, पात्रों की चारित्रिक रेखाएँ उभारने पर होता है।

—रिजनलिज्म, पृ. २१८, साहित्य खंड

में इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि उपन्यास की रचना पात्रों के आन्तरिक जीवन की झाँकी देने के लिये होती है, बोलियों की विशेषताओं के प्रकटीकरण के लिये नहीं। इसके लिये यह कोई आवश्यक नहीं कि उपन्यास में स्थानीय लोक-व्यवहार के शब्दों की भरमार हो, शब्दों के अशुद्ध विवरण दिये जांय, वाक्य-विन्यास को विकृत किया जाय। ऐसे कुछ ही शब्दों के कौशलपूर्ण प्रयोग करने से ही स्थानीय वार्तालाप के स्वरूप का आभास दिया जा सकता है। यदि आप ग्रामीणों की बोलियों की ध्वनियों को हू-ब-हू कागज पर उतार कर रखने का प्रयत्न करते हों, तो याद रखिये, पाठकों का ध्यान एक महत्वपूर्ण बात की ओर से हटाकर एक तुच्छ बात की ओर प्रेरित करते हैं।"[६]

आंचलिकता के विकास के लिये जीवन का वैविध्य आवश्यक है। यह वैविध्य बाहरी भी हो सकता है और भीतरी भी[७] उदाहरण के लिये किसी बड़े भू-भाग भारत, चीन या रूस को लीजिये। भौगोलिक वैविध्य के कारण वहाँ जीवन-क्रम, रहन-सहन, रीति-रिवाज का वैविध्य हो सकता है और आंचलिक कृति में इसी वैविध्य को केन्द्र बिन्दु बनाया जा सकता है, लेकिन भौगोलिक वैविध्य के अभाव में भी जीवन के वैविध्य का लोप नहीं होता। किसी छोटे से समरस और समधर्मी भू-भाग के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी भी अलग-अलग स्थानगत, संस्कारगत और रीतिगत विशिष्टताएं हो सकती हैं। एक छोटे से प्रान्त बिहार को ही लें। मैथिली, मगही और भोजपुरी क्षेत्र की अपनी विशेषताएं हैं। वे एक होकर भी पृथक हैं। यही पृथकता आंचलिकता को बल देती है।

---

६. वही पृ० १८५

७. मानविकी पारिभाषिक कोष में आंचलिकता पर विचार करते हुए कहा गया है—आंचलिकता की प्रवृत्ति जहाँ एक ओर देश की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक विविधता की द्योतक है वहीं लेखक के प्रदेशगत प्रेम एवं अंचल विशेष के निवासियों के जीवन की समझ का भी प्रमाण है। राष्ट्रीय जीवन में लोकतंत्रीय भावना के विकास की भी प्रेरणा उसमें निहित है।..............आंचलिक साहित्य की सिद्धियाँ तीन दिशाओं में होती हैं—स्थानीयता, यथार्थता और लोकतन्त्रात्मकता।

पृ० २१८-१९, साहित्य खण्ड

आँचलिक कृतियों का प्रणयन विभिन्न उद्देश्यों से हो सकता है। उदाहरण के लिये—(१) अंचल विशेष के जीवन को उसकी विशेषताओं के साथ चित्रित करना (२) अंचल विशेष के भौगोलिक परिवेश को मूर्त्त और जीवित बनाकर उपस्थित करना। (३) अंचल विशेष में घटने वाले परिवर्तनों का लेखा-जोखा उपस्थित कर उसका गतिशील चित्र उपस्थित करना। (४) अंचल विशेष के अध्ययन के व्याज से व्यापक मानव जीवन का अध्ययन कर अपनी सम्वेदना और जीवन दर्शन का प्रकाशन कर सकना।

ये अलग-अलग उद्देश्य हैं, पर कृति में इन सबका सम्यक् समाहार ही अभीष्ट है। जब कृतिकार के कौशल से ये सभी उद्देश्य एकजूट हो जायेंगे, तभी रचना सार्थक होगी। इसी पर आंचलिकता का भविष्य निर्भर करता है।

आत्मकथा

जब लेखक अपनी जीवनी स्वयं लिखे तो वह आत्मकथा है। आत्म-कथा के लिये हिन्दी में आत्मचरित या आत्मचरित्र शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी-साहित्य कोष में लिखा है—"आत्मचरित और आत्मचरित्र हिन्दी में आत्मकथा के अर्थ में प्रयुक्त प्रारम्भिक शब्द है और तत्वत: आत्मकथा से भिन्न नहीं हैं।" लेकिन आगे चलकर लेखक ने आत्मचरित और आत्मकथा में एक सूक्ष्म अन्तर बतलाया है—"आत्म चरित्र कहलाने वाली रचना किंचित् विश्लेषणात्मक और विवेकप्रधान होती है और आत्मकथा कही जाने वाली कृति अपेक्षया अधिक रोचक और सुपाठ्य होती है।" इस सूक्ष्म अन्तर की कल्पना करके आत्मचरित और आत्मकथा को अलग करना ठीक नहीं है। बहुधा आत्मकथा विश्लेषणात्मक और विवेकप्रधान होने के साथ रोचक और सुपाठ्य भी होती है। यह तो लेखक विशेष पर निर्भर करता है कि वह अपनी आत्मकथा को विश्लेषणात्मकता से बोझिल कर दे या विश्लेषणात्मकता के साथ-साथ रोचकता का भी समावेश करे। महात्मा गांधी, डा० राजेन्द्र प्रसाद और पंडित जवाहरलाल नेहरू आदि की आत्मकथाओं में विवेक-शीलता और विश्लेषणात्मकता के साथ-साथ रोचकता आदि गुण भी सहज ही देखे जा सकते हैं।

आत्मकथा के रोचक होने के कई कारण हो सकते हैं। मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड) में कहा गया है—आत्मकथा या इस प्रकार की अन्य रचनाओं के आकर्षण के कई कारण हैं (१) किन्ही ऐतिहासिक घटनाओं या आन्दोलनों से यदि लेखक का कुछ सम्पर्क रहा हो तो उसका विवरण बाद की पीढ़ियों के लिये रोचक और उपयोगी होता है क्योंकि उससे तत्कालीन मनोवृत्ति का कुछ सही अनुमान सुलभ हो पाता है। (२) हो सकता है कि स्वयं लेखक का ही इतिहास निर्माण में महत्वपूर्ण योग रहा हो। विख्यात विजेता, शासक, राजनीतिज्ञ, नेता अथवा चिंतक के विचारों का अपने तथा अन्य व्यक्तियों और घटनाओं के विषय में उसके मतामत का सदा महत्व रहता है। (३) लेखक के दृष्टिकोण या विचारों में कुछ विशेषता या अनूठापन हो अथवा वह अपने युग से आगे की बात

सोचने वाला हो। (४) लेखक ऐसा व्यक्ति हो जिसके जीवन का मुख्य कार्य आत्ममंथन ही रहा हो। इन सब कारणों से आत्मकथा में रोचकता बढ़ जाती है।

आत्मकथा और जीवनी

आत्मकथा और जीवनी में बहुत कुछ साम्य है। दोनों का लक्ष्य व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को दर्शाना होता है। साहित्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द-कोष में आत्मकथा की विशेषताओं पर विचार करते हुए कहा गया है—"आत्मकथा में जीवन-चरित्र की भांति घटना वर्णन की एकता होती है जिसका एक सूत्र में क्रमबद्ध रूप में संगठित होना अनिवार्य है। यही इसे संस्मरणों, पत्रों और दैनन्दिनी आदि से अलग कर देती है।" घटना वर्णन की यह एकता जीवनी में भी होती है। लेकिन जीवनी और आत्मकथा में भेद यह है कि जीवनी दूसरे के द्वारा लिखी जाती है और आत्मकथा स्वयं लेखक द्वारा। आत्मकथा में वर्णित घटना की एकता जीवनी में वर्णित घटना की एकता की अपेक्षा विशेष विश्वसनीय होती है क्योंकि उन घटनाओं के बीच सांस लेने वाला व्यक्ति ही उसे लिपिबद्ध करता है। इस प्रकार आत्मकथा में घटनाएं अधिक सजीव होकर संगुफित होती हैं। जीवनी में जीवनीकार पढ़कर या सुनकर वर्णित होने वाले चरित्र के जीवन की घटनाओं का वर्णन करता है इसलिये वहां थोड़ी-बहुत चूक की सम्भावना रहती है।

आत्मकथा और आपबीती

आपबीती भी आत्मकथा का ही एक प्रकार है। हिन्दी साहित्य कोष में श्री अजितकुमार लिखते हैं—"आपबीती अपने साथ बीती हुई सामान्यतः किसी असुखद घटना का वर्णन है।" लेकिन यदि हम आपबीती और आत्मकथा पर और विचार करें तो और भी कई अन्तर स्पष्ट होंगे। आत्मकथा में कितनी ही घटनाओं का संगुफन होता है। ये घटनाएं छोटी, बड़ी, प्रधान, अप्रधान सभी हो सकती हैं। लेकिन आपबीती में बहुधा कोई एक ही या उससे मिलती-जुलती घटनाओं का वर्णन होता है। इसमें वर्णित घटना सामान्य न होकर, अनिवार्य रूप से विशेष होती है। यदि आत्मकथा समतल भू-भाग पर बहने वाली गंगा है तो आपबीती पहाड़ों से होकर उतरने वाली उछलती-कूदती जलधारा। उसका क्षेत्र संक्षिप्त तो होता है लेकिन उसमें एक गति और रवानी होती है। आपबीती में कुछ अनोखे अजूबेपन का भाव होता है। यही इसे आत्मकथा से रोचक बनाता है। इस दृष्टि से यह आवश्यक

नहीं है कि आपबीती में किसी असुखद घटना का ही वर्णन हो। कोई रोमांचक, हृदयद्रावक, मर्मस्पर्शी और सुखद प्रसंग भी आपबीती में स्थान पा सकते हैं।

आत्मकथा और संस्मरण

आत्मकथा और संस्मरण एक दूसरे के बहुत समीप हैं। जीवन की बीती हुई घटनाओं का स्मरण और उल्लेख दोनों में होता है। दोनों में ही जीवन को पीछे उलट कर देखने का भाव है। लेकिन दोनों में किंचित् भेद भी है।[1] संस्मरण में लेखक की दृष्टि चयनात्मक होती है। वहाँ स्मृति बिजली की तरह कौंधती है और उसकी झलक में जो घटनाएं, व्यक्ति, प्रसंग या मन:स्थितियां आती हैं उनका चित्रण किया जाता है। इस क्रम में यह आवश्यक नहीं है कि उन सबका पारस्परिक सम्बन्ध हो ही। लेकिन आत्म-कथा में ऐसा नहीं होता। वहां तो पीछे उलट कर अपने जीवन पर व्यवस्थित दृष्टि डालनी होती है और घटनाओं को उसी क्रम से सजाना पड़ता है जिस क्रम से वे जीवन में घटी है, वैसे तो स्मृति का सहारा दोनों में लिया जाता है और इस दृष्टि से स्मृति की विशेपता–यथार्थ में कुछ जोड़ घटाव–दोनों में ही लक्षित हो सकती है पर संस्मरण में जोड़-घटाव की अधिक सम्भावना रहती है जब कि आत्मकथा में लेखक से परले सिरे की विश्वसनीयता की मांग होती है। हम जीवन के किसी प्रसंग का संस्मरण लिखते समय कुछ अधिक रंग-रेखाओं का प्रयोग करने के लिये स्वतन्त्र होते हैं। यह वहां क्षम्य है। लेकिन आत्मकथाकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह व्यर्थ की रंग-रेखाओं का प्रयोग न करे। आत्मकथा में यथाशक्य जीवन की हू-ब-हू तस्वीर उतारनी होती है। संस्मरण में किसी घटना को चमकाने का भाव होता है इसलिये उसमें लेखक के जाने अनजाने कुछ विशेपता आ जा सकती है लेकिन आत्मकथा में पूरे जीवन को ज्यों का त्यों उघार कर दिखाने की चेष्टा की जाती है। विशेष प्रसंगों पर तीखी या धीमी रोशनी डालना वहाँ अभीष्ट नहीं है।

आत्मकथा की विशेपताएं

आत्मकथा में लेखक का जीवन चरित्र तो रहता ही है लेकिन वह

---

[1] आत्मकथा में लेखक के आन्तरिक जीवन या चरित्र पर अधिक बल होता है, संस्मरणों में बाह्य घटनाओं पर।

मानविकी पारिभाषिक कोश, साहित्य खण्ड, पृ० २८

जीवन चरित्र देश और काल से निरपेक्ष नहीं होता । इस बात को लेकर आत्मकथा इतिहास के समीप है । आत्मकथा में लेखक का युग और परिवेश और उसकी विशेषताएं ध्वनित होती हैं। साहित्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द-कोष में गांधी जी और पंडित नेहरू जैसे व्यक्तियों की आत्मकथा पर विचार करते हुए श्री राजेन्द्र द्विवेदी ने लिखा है—"इनमें जीवन चरित्र के आत्माभिव्यंजक आकर्षण के अलावा इन महान् व्यक्तियों के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं आदि का विवरण भी मिल जाता है और उन घटनाओं के विषय में लेखक के अपने विचार भी ।" इस प्रकार आत्मकथा से कई कार्य एक साथ सिद्ध होते हैं—पाठक चरित-नायक के जीवन से परिचित होता है, उसके समय के समाज और इतिहास को जानता है और उस समय की घटनाओं और समस्याओं के संबध में लेखक के विचार जानता है । इस प्रकार आत्मकथा समय-प्रवाह के बीच तैरने वाले व्यक्ति की कहानी है । इसमें जहाँ व्यक्ति के जीवन का जोहर प्रकट होता है वहां समय की प्रवृतियाँ और विकृतियाँ भी स्पष्ट होती हैं । इन दोनों के घात-प्रतिघात से ही आत्मकथा में सौन्दर्य और रोचकता का समावेश होता है ।

आत्मकथा लिखना बड़ा कठिन काम है । इसलिये बहुधा विशेष, विशेष व्यक्ति ही आत्मकथा लिखने के लिये प्रस्तुत होते हैं। लिखने के बाद भी आत्मकथा के रूप में बहुत कम कृतियों को सफलता मिलती है । मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खण्ड) में कहा गया है—"साधारणत: आत्मकथा में व्यक्ति के अपने अनुभव अधिक से अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत होते हैं पर कई कारणों से कभी कभी ऐसा नहीं हो पाता जैसे—(क) व्यक्ति की स्मृति सदा विश्वनीय नहीं होती । अनेक कारणों से बहुत सी महत्वपूर्ण बातें विस्मृत भी हो जाती हैं अथवा भिन्न रूप में याद रह जाती हैं जिससे घटना अथवा अनुभव विशेष का रूप ही बदल जाता है । (ख) लेखक आत्मकथा में अप्रिय बातों को जाने अनजाने छोड़ भी देता है । प्राय: हम वही बात याद रहती हैं जो हमें अच्छी लगती हैं या जिनसे हमारे आत्म-सम्मान को चोट नहीं पहुँचती । (ग) अधिकतर लज्जा के कारण भी अपने बारे में पूरी बात कहना सम्भव नहीं होता है । विशेपकर प्रेम अथवा यौन जीवन से संबंधित बातें कहने में संकोच रहता ही है । यह भी हो सकता है कि लेखक घटना विशेष से संबंधित व्यक्तियों का नाम लेना न चाहे । इसके विपरीत अपना पौरुष और महत्व जताने के लिये बात को बढ़ा चढ़ाकर कहने की शैरवी बघारने की प्रवृत्ति भी रहती है । (घ) यदि लेखक में अपनी जीवन-कथा को कलाकृति के रूप में सँवार-सँजोकर रखने की प्रवृत्ति हो तो भी वह

बहुत सी बातें छोड़े देने और कुछ को सजाकर रखने को बाध्य होता है। आत्मकथा की प्रामाणिकता के विषय में ये सब कठिनाइयाँ बहुत बड़ी हैं। इसलिये यह साहित्य की एक ऐसी विधा है जो अपेक्षाकृत कम समृद्ध है।"

आत्मकथा की ओर सामान्य लेखकों के आकृष्ट न होने के कारण हैं। उनके जीवन में घटनाओं और प्रसंगों का वैसा बाहुल्य नहीं होता है जैसा कि विशेष व्यक्तियों के जीवन में होता है न विस्तृत सामाजिक जीवन के लिये उनके औसत जीवन की कोई उपयोगिता ही होती है। वैसे तो कितने ही साहित्य-कारों ने आत्मकथाएं लिखी हैं और लेखन-कौशल से युक्त होने के कारण वे रोचक भी हैं लेकिन वे उतनी लोकप्रिय नहीं हुई हैं जितनी उन महापुरुषों की आत्मकथाएं जो साहित्येतर क्षेत्रों के हैं। लेखकों में जो घुमक्कड़ साहित्यकार रहे हैं और जिनका जीवन घटनाओं से परिपूर्ण रहा है वही आत्मकथा लिखने में सफलता प्राप्त कर सके हैं।

आत्मकथा लेखन के पीछे उद्देश्य

आत्मकथा लिखने के पीछे लेखक का क्या उद्देश्य होता है यह बड़ा स्वाभाविक प्रश्न है। हिन्दी-साहित्य-कोष में इस पर युक्तिपूर्वक विचार किया गया है। हम उसे ही यहाँ उद्धृत करना उचित समझेंगे।" "एक प्रकार के आत्मकथात्मक साहित्य का उद्देश्य होता है आत्म-निर्माण, आत्म-परीक्षण या आत्म-समर्थन, अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का मोह या जटिल विश्व के उलझावों में अपने आप को अन्वेषित करने का सात्विक प्रयास। इस प्रकार के आत्मकथात्मक साहित्य के पाठकों में सर्वप्रमुख स्वतः लेखक होता है जो आत्मांकन द्वारा आत्म-परिष्कार एवं आत्मोन्नति करना चाहता है। आत्म संबंधी साहित्य लिखने का एक दूसरा उद्देश्य यह भी है कि लेखक के अनुभवों का लाभ अन्य लोग उठा सकें। महान् ऐतिहासिक आन्दोलनों और घटनाओं के सम्पर्क में रहने से डायरी, संस्मरण या आत्मकथा लेखक को यह आशा होना स्वाभाविक है कि आगामी युगों में उसकी रचना उसके युग तथा समय के प्रमाण रूप में पढ़ी जायगी। यदि धर्म, राजनीति अथवा साहित्य के इतिहास-निर्माण में किसी व्यक्ति का महत्वपूर्ण हाथ रहा हो तो अवश्य ही पाठक उस व्यक्ति के बारे में स्वयं उसकी लिखी बातों को पढ़ना पसन्द करेंगे। इन दोनों स्वतःसिद्ध उपयोगों के अतिरिक्त आत्मकथा लेखन के मूल में कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा भी हो सकती है और अपनी पद-मर्यादा अथवा ख्याति से लाभ उठाने की शुद्ध व्यावसायिक इच्छा भी।"

इसी क्रम में एक दूसरा प्रश्न है कि लेखक आत्मकथा अपने

लिये लिखे या पाठकों के लिये। यों तो जो आत्मकथाएं आत्म-निर्माण, आत्म परीक्षण और आत्म समर्थन के लिये लिखी जाती हैं उनके भी पाठक होते हैं और लेखक के मन में उनकी कल्पना शुरू से ही होती है। यदि ऐसी बात नहीं हो तो ऐसी आत्म कथाओं को प्रकाशित होने देने का सवाल ही नहीं उठता। ठीक इसी प्रकार जो आत्मकथाएं पाठकों के लिये ही लिखी जाती हैं उनमें भी लेखक अपने को एकदम भुला नहीं देता। यदि ऐसी बात हो तो वह आत्मकथा न होकर कुछ और होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लेखक और पाठक ये दोनों पक्ष दोनों प्रकार की आत्म-कथाओं के मूल में होते हैं। लेकिन फिर भी दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर है। एक में जहाँ लेखक स्वान्तः सुखाय के भाव से प्रेरित होता है वहाँ वह दूसरे में पाठकों को ही अधिक महत्व देकर प्रणयन में प्रवृत्त होता है। इन दोनों ही दृष्टियों में कुछ खतरे हैं जिन्हें आत्मकथा लेखक को समझ लेना है। यदि वह आत्मकथा के लिये अपने को ही प्रधान मानकर चलता है, केवल अपनी ही रुचियों से चालित होता है और पाठकों की रुचियों की कल्पना तक नहीं करता तो सम्भव है कुछ ऐसी घटनाओं और प्रसंगों को छोड़ दे, जिनका उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। लेकिन वे ही प्रसंग और घटनाएं पाठकों के लिये रोचक और उपादेय हो सकती हैं। यह तो मानव-स्वभाव है कि जो एक को प्रिय नहीं होता वह दूसरे के लिये रुचिकर होता है। इसी प्रकार यदि आत्मकथा लेखक पाठकों को सामने रखकर ही आत्मकथा लेखन में प्रवृत्त होता है तो सम्भव है वह अपने जीवन में उतने गहरे नहीं उतर सके जितना तब उतर सकता जब कि उसके सामने असंख्य पाठक समुदाय की कल्पना नहीं होती। कुशल आत्मकथा लेखक को इन दोनों ही खतरों से बचकर आगे बढ़ना है और अपने जीवन के रग-रेशों को उघार कर देखते हुए पाठकों को भी उचित परितृप्ति देनी है।

नये उपन्यास

•

सुप्रसिद्ध रूसी कथाकार इलिया एहरेन्बुर्ग ने अपने उपन्यास फॉल आफ पैरिस के हिन्दी संस्करण की भूमिका में लिखा है—"उपन्यास को न्यूयार्क के बजाय पैरिस की तरह होना चाहिये ।" अपनी इस बात को स्पष्ट करने के लिये उसने न्यूयार्क और पैरिस की अलग-अलग विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—"जब आप किसी गगनचुम्बी अट्टालिका की छत से न्यूयार्क नगर को देखते हैं तो जो दृश्य आपको दिखाई देता है वह उतना ही नीरस और मनहूश होता है जितना किसी प्रबंध-ग्रंथ का संख्याओं और आंकड़ों से भरा पृष्ठ अथवा कोई नक्शा या चार्ट । सभी सड़कें और रास्ते सीधी रेखाओं की तरह बिछे हैं, निश्चित फासले पर एक दूसरे को काटते हुए और ऐसा प्रतीत होता है जैसे यहां आदमी की जिन्दगी भी सीधी और सपाट रेखाओं पर चलती है । लेकिन नोत्रदाम की छत से पेरिस नगर ऐसा नहीं लगता उलझे हुए बाल जैसी सड़कों और किसी अज्ञात शक्ति से आपस में सम्बद्ध सी विभिन्न युगों का प्रतिनिधित्व करती हुई इमारतें, विस्मय-विमुग्ध कर देने वाली वृक्षावलियां और खुले मैदानों तथा मानवीय भावनाओं और उद्वेगों की विस्मयकारी गुत्थियों से भरा पैरिस जैसे रंग-बिरंगे पत्थरों और चट्टानों के जंगल की याद दिलाता है : जैसे वह सदियों का वन-प्रान्तर हो ।"

उपर्युक्त वक्तव्य से जहां उपन्यास के संबंध में इलिया की व्यक्तिगत मान्यता स्पष्ट होती है, वहां नये और पुराने उपन्यासों के मूलभूत अंतरों पर भी प्रकाश पड़ता है । पुराने उपन्यासों का गठन प्रायः न्यूयार्क की तरह होता है, जबकि नये उपन्यासों का गठन पैरिस जैसा देखा जाता है ।

उपन्यास की मूलभूत आवश्यकताओं में कथानक भी एक है । पर उपन्यास की कथानक संबंधी धारणा में बड़ा त्वरित परिवर्तन हुआ है । यह जहां उपन्यास की गतिशीलता और विकास सूचित करता है, वहां यह भी स्पष्ट करता है कि यह साहित्य-रूप अत्यधिक लचीला है और इसमें प्रयोग की काफी गुंजाइश है । पहले के उपन्यासकार कथानक तैयार करते थे, गढ़ते थे, सजाते-संवारते थे, काट-छांट करते थे, एक निश्चित योजना और उद्देश्य से ढांचा खड़ा करने की परिपाटी थी । कथानक की हर रेखा और मोड़

पहचाने जा सकते थे। लेकिन नये उपन्यासों के संबंध में यह बात नहीं की जा सकती। वह तो किसी सुस्पष्ट योजना के अधीन होने से साफ इन्कार करता है। कथानक इतना उलझा और जटिल होता है, कि उसके पीछे कोई योजना या उद्देश्य निहित है, यह स्पष्ट नहीं होता।

पुराने उपन्यास, लेखकों के लिये शतरज की तरह थे। जिस प्रकार शतरंज का एक नक्शा होता है, उसी प्रकार पुराने उपन्यासों का कथानक था। शतरंज के नक्शे में कई खाने होते हैं, ठीक उसी प्रकार कथानक के भी कई खंड थे। जिस प्रकार शतरंज के किसी निश्चित खाने पर मोहरों के पहुँच जाने से खेल का मोटा-मोटी अन्दाज हो जाता है, उसी प्रकार पात्रों को किसी विशेष स्थिति या ऊंचाई गहराई में देखकर कथा या चरित्रों की गति का अनुमान होता था और चरित्र तो ठीक मोहरों की तरह थे, जब जिसे चाहा उठाया और अपनी समझ के अनुसार ठीक या गलत जगह पर रख दिया। वहां रखे जाने का औचित्य भी होता था, और कभी कभी यों ही खेल-खेल में एक घर से उठाकर दूसरे घर में रख दिये जाते थे। नये उपन्यासों को पढ़ने के बाद आप इन बातों को मानने के लिये कतई तैयार नहीं होंगे।

साहित्य के रूपों का विकास अनायास नहीं होता और न उन रूपों में वैविध्य एकाएक आता है। एक समय था जब साहित्य में मात्र काव्य की प्रचुरता थी। धीरे-धीरे अन्य साहित्य-रूपों का प्रादुर्भाव हुआ। फिर वे इतने विकसित हुए कि उनका ही विभिन्न किस्मों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देने लगा। यह इसलिये सम्भव हुआ कि जीवन निरन्तर विकसित होता रहा और उसी के स्वरूप के अनुसार साहित्य के भी स्वरूप-भेद होते गये। जब हम सीधे-सादे मनुष्य थे, शांत-सरल प्रकृति की गोद में रहते थे और ऋजु मनोभावों के पुतले थे, तो मात्र गीत और लय प्रधान काव्य ही हमारे जीवन के रूप और प्रवृत्ति को व्यक्त करने के लिये काफी था। लेकिन ज्यों-ज्यों हममें मनोभावों की जटिलता आती गई, हमारे परिवेश में विविधता और विस्तार आता गया, त्यों-त्यों साहित्य के प्रचलित रूप, जीवन के स्वरूप और स्वभाव को व्यक्त करने में असमर्थ होते गये। इसलिये पुराने साहित्य रूपों के साथ-साथ कितने ही नये साहित्य-रूप विकसित हुए।

उपन्यासों का प्रणयन युगों पूर्व शुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से हुआ। बाद में हम उसके द्वारा अपने मनोभावों को प्रकाशित करने लगे। होते-होते वह एक ऐसे माध्यम के रूप में विकसित हुआ कि उसके व्याज से हमारा सम्पूर्ण जीवन और समाज ज्यों-का-ज्यों ध्वनि होने लगा। लेकिन स्वरूप और

उद्देश्य में इतना अंतर आने पर भी उपन्यासों ने मनोरंजन का साथ नहीं छोड़ा। जीवन और समाज के रूप को ध्वनित करते हुए भी उसने अपने आदिम उत्तरदायित्व के प्रति निष्ठा वरती। वह बड़े कौशल और सामर्थ्य के साथ अपना दुहरा कार्य सम्पादित करता रहा। हां, ऐसा अवश्य हुआ कि पाठकों के विकसित रुचिवोध को ध्यान में रखकर यथार्थ की अभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया गया और शुद्ध मनोरजन गौण हो गया।

जव उपन्यासों का लक्ष्य मनोरंजन था, तो उनका रूप-गठन भिन्न रीति से हुआ करता था। जव दर्शक समुदाय किसी जादूगर के कृत्य से प्रभावित होना चाहता है तो जादूगर अपने करतव दिखाता है, उनके सामने अपने कौशल की दुनिया खड़ी करता है। लेकिन यदि दर्शक समुदाय जिज्ञासु श्रोता वनकर जीवन और समाज के वारे में कुछ जानने और सुनने के लिये तत्पर हो तो उसे जादूगर के करतव से संतोष नहीं होगा। तव तो उसके आगे किसी विचारक, पंडित या नेता को आना होगा जो अपनी सीधी-सरल भाषा में जीवन और समाज के रूप को प्रकाशित कर सके, विचारों को पुष्ट करने वाले दृष्टान्त रखे, तर्क दे, आंकडे इकट्ठा करे।

नये उपन्यासों में कथा का जादू क्रमशः घटता चला गया। जादू का अभाव होने से कथा सिर पर चढ़कर वोलने से लाचार हो गई। पहले के उपन्यासों की यह एक वहुत बड़ी विशेषता थी कि वे एक सांस में पढ़ लिये जाते थे। वेचारा पाठक खाना-पीना और काम-काज छोड़-छाड़ कर उपन्यास के पीछे पड़ा रहता था। वह एक दूसरी दुनिया की सैर में अपने आप को भूल जाता था। इसलिये तव के अभिभावक किशोर-मति पाठकों के लिये उपन्यासों को अफीम की तरह खतरनाक समझते थे। अव यह खतरा वहुत अंशों में घट गया है। सचाई जटिल होती है और जटिलता को ढोने के कारण आज उपन्यास एक सांस में पढ़े जाने योग्य नहीं रह गये। पहले के पाठक घुड़सवार होते थे जो कथानक की लम्वी-चौड़ी सीधी-सपाट सड़क पर घोड़ा दौड़ाते हुए साफ निकल जाते थे। तव दूरी मापने का सवाल था, इसलिये आगे वढ़ने की जल्दी-वाजी थी। अव तो रास्ते के इर्द-गिर्द पड़ने वाली भूमि, खेत-खलिहान, लता-झाड़ी, जंगल आदि का मुआयना करते चलना है, जिससे उस अंचल विशेष का जीवन, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान स्पष्ट हो।

यदि चरित्रों की वात लें, तो पहले के उपन्यासों में चरित्र होरा-इजेंटल ढंग से उपस्थित होते थे। उनका विकास सीधा-सादा और स्पष्ट होता

था। वे वहुधा एक सीध में विकसित होते चले जाते थे। यथार्थ जीवन में चरित्रों का विकास इस ढंग से नहीं होता, इस ओर उपन्यासकार का ध्यान ही नहीं रहता था। उसके कथा जगत में चरित्रों के विकसित होने का, अपना निराला ढंग था। इस एकमुखी और त्वरित विकास को उपन्यासकार रोक नहीं सकता था, क्योंकि ऐसा करने से चरित्रों के बौने हो जाने की सम्भावना थी। उनके विकास की कई दिशाएं नहीं होती थीं कि वे एक ओर रास्ता न पाकर दूसरी ओर चल निकलते।

नये उपन्यासों ने चरित्रों के मामले में पुराने उपन्यासों के विपरीत भिन्न मार्ग पकड़ा। उनके उपन्यासों में चरित्रों के विकास की पथ-रेखा सीधी, स्पष्ट और सरल न होकर घुमावदार और चक्करों से भरी होने लगी। चरित्र वहुधा परस्पर विरोधी दिशाओं में विकसित होने लगे। ऐसा होने से चरित्रों में विकास की अत्यधिक ऊंचाई तो नहीं आई, लेकिन वे जमीन घेरने लगे। ऐसे चरित्रों का मूल्यांकन भी अपेक्षाकृत अधिक कठिन प्रतीत होने लगा। उनके विकास की कोई एक निश्चित दिशा नहीं थी। व्यक्तित्व का कोई एक विशेष कोण नहीं था, इसलिये इनका रहस्मय और जटिल होना स्वभाविक था। इन विशेष गुणों के कारण ही ये आधुनिक चरित्र समझे गये और पुराने उपन्यासों के खल्वाट चरित्रों से भिन्न माने गये। ऐसे चरित्रों की संगति यथार्थ जीवन के क्रोड़ में पलनेवाले चरित्रों से सहज ही वैठने लगी, इसलिये इनसे नाक भौं सिकोड़ने का सवाल ही नहीं था। विकसित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की प्रामाणिकता ने इनके स्वरूप पर सचाई और स्वाभाविकता की मुहर डाल दी जिससे ये हमारे लिये सहज ग्राह्य हो उठे।

जीवनी

•

जब कोई लेखक, वीर-पूजा की भावना से प्रेरित होकर, किसी महान व्यक्ति की, चाहे वह किसी भी क्षेत्र से संबंधित हो, जीवन-कथा लिखे तो वह जीवनी है। इसके लिये हिन्दी में जीवन-चरित या जीवन-चरित्र शब्द भी प्रचलित है। अंग्रेजी में इसे बायोग्राफी कहते हैं। साहित्य शास्त्र के पारिभाषिक शब्द कोष के अनुसार "यह किसी व्यक्ति का पुस्तकबद्ध जीवनेतिहास है जिसकी रचना के पीछे अंग्रेज कवि लौंगफेलो की यह उक्ति कि "हम भी महान चरित्रों के चरण-चिह्नों पर चलकर अपने जीवन को उत्कृष्ट बना सकते हैं" प्रेरणा का कार्य करती है।

प्राचीन साहित्य-रूप या नवीन साहित्य-रूप

जीवनी प्राचीन साहित्य-रूप है या नवीन साहित्य-रूप यह प्रश्न स्वाभाविक है। जीवनियां आधुनिक युग में ही नहीं लिखी गई हैं, वरन् सुदूर अतीत और मध्य युग में भी इनकी रचना हुई है। संस्कृत में जीवनियां लिखी जाती थीं। उदाहरण के लिये वाणभट्ट रचित "हर्ष चरित" लिया जा सकता है। इसी प्रकार मध्य-युग में भी नाभादास ने "भक्तमाल" की रचना की। आज इस प्रकार की रचनाओं को सही अर्थ में जीवनी भले ही नहीं स्वीकार किया जाये, लेकिन ये इतिवृत्त के रूप में जीवनी का प्रारम्भिक रूप हैं। बाद में भी हिन्दी में "गोसाई चरित" जैसे ग्रंथों की रचना हुई जिसे हम आधुनिक जीवनियों का प्रारम्भिक रूप मानते हैं। इस प्रकार कुछ लोगों द्वारा कहा जा सकता है कि जीवनियों को साहित्य का नया-रूप मानना उचित नहीं होगा। लेकिन यहीं पर एक भिन्न मत रखनेवाले लोगों का उल्लेख करना उचित होगा। उनका कहना है कि जीवनियों से आज हम जो अर्थ लेते हैं अर्थात् व्यक्ति विशेष के जीवन का प्रामाणिक इतिहास उस अर्थ में पुराने जमाने में जीवनियां निश्चय ही नहीं लिखी जाती थीं। इस दृष्टि से हम "भक्तमाल" या "गोसाई चरित्र" आदि को जीवनियां नहीं मान सकते। उनके अनुसार आज की जीवनियों और पुरानी जीवनियों में पर्याप्त अंतर है। यह बात है भी ठीक। श्री राजेन्द्र द्विवेदी ने दोनों के अंतरों पर प्रकाश डालते हुए कहा है— "जहां उस समय के जीवन-चरित्र महात्माओं के अतिरंजित प्रभावों और कार्यों से

भरे पड़े थे वहां आज के जीवन-चरित्र सत्य की खोज, ईमानदारी और संतुलन अपनाते हुए चलते हैं। वर्ण्य-जीवन की प्रमुख घटनाओं पर बल देना, उनके कारणों और परिणामों की खोज करना और अप्रधान घटनाओं को छांटकर उसके जीवन का क्रमिक विकास उपस्थित करना ये सब कला के उच्च आदर्श हैं जिस ओर आज के जीवन-चरित्र लेखक झुक रहे हैं।" इस प्रकार स्पष्ट है कि जीवनी-लेखन के प्रौढ़ वैज्ञानिक आदर्श आधुनिक युग में ही निश्चित हुए। पुराने जमाने में जीवनियां एक भावुकतामूलक दृष्टिकोण को सामने रखकर लिखी जाती थी, इसलिये वहां वस्तुस्थिति का स्फीत वर्णन होता था। प्रामाणिकता को परे रखकर चरित्र-नायक को अधिक प्रभावशाली चित्रित करना ही लेखक का उद्देश्य होता था। इस रूप में पुरानी जीवनियों में वर्णित चरित्र महान तो होता था, लेकिन कुछ कुछ अस्वाभाविक भी हो जाता था। इस दृष्टि से यह कहना उचित है कि पहले जो जीवनियां लिखी जाती थी वे जीवनियां सही मानी में इसलिये नहीं हो पाती थीं कि उनमें वीर-पूजा की भावना का अतिरेक लक्षित होता था। इस दृष्टि से वे प्रशस्तियाँ हो जाती थीं।

जीवनी और जीवन-वृत्त

जीवनी और जीवन-वृत्त एक दूसरे के बहुत समीप हैं। दोनों में ही वर्ण्य-चरित्र के जीवन की घटनाओं, प्रसंगों और भाव-धाराओं को स्थान दिया जाता है। लेकिन दोनों में पर्याप्त अंतर भी है। जीवनी में सम्पूर्णता और सुसमबद्धता होती है जबकि जीवन-वृत्त के लिये ये आवश्यक नहीं समझी जातीं। वहां तो जीवन के कुछ प्रसंग और घटनाएं एक स्थान पर एकत्र कर दिये जाते हैं जिनका रूप किंचित् बिखरा-बिखरा सा होता है। इस अवस्था में उनमें आंतरिक एकसूत्रता नहीं होती। फिर जीवन-वृत्त के लेखन में लेखक की भूमिका भी अत्यन्त संक्षिप्त होती है, वह घटनाओं और प्रसंगों का संकलयिता भर होता है। उनमें एक क्रम बिठाकर, जीवन के सन्दर्भ में एक उचित, स्वाभाविक और प्रभावशाली व्याख्या करना उसका कार्य नहीं होता। लेकिन जीवनी में जीवनी-लेखक को यह सब करना पड़ता है। वह वर्णित-जीवन के सभी तथ्यों को जमा कर उसका वर्गीकरण और सम्पादन करता है और तब उसे व्यवस्थित रूप देकर उसकी व्याख्या करता है। इस रूप में जीवन-वृत्त जीवनी का कच्चा मालवत् रूप है। जीवनी-लेखन में उन कच्चे मालवत् रूपों की कलात्मक परिणति होती है। जिस प्रकार कुम्भकार बर्तन मिट्टी से ही बनाता है लेकिन सीली और गूंथी हुई मिट्टी बर्त्तन नहीं है, वह बर्त्तन कहलाने के योग्य तभी होती है जब कुम्भकार उसे चाक पर चढ़ाता है और अपनी कुशल उंगलियों का सहारा देकर उसे एक निश्चित आकार देता है ठीक

उसी प्रकार जीवन-वृत्त जब कुशल जीवनी-लेखक के हाथों पड़ जाते हैं तो सुन्दर जीवनी बन जाती हैं।

जीवनी और संस्मरण

जिस प्रकार हम अपना संस्मरण लिखते हैं उसी प्रकार दूसरों के संस्मरण भी लिखते हैं। ऐसे संस्मरणों और जीवनियों में बड़ी समानता होती है। संबंधित व्यक्ति का जीवन-प्रसंग उससे संबंधित संस्मरणों और उसकी जीवनी में समान रूप से व्यक्त होता है। लेकिन यह समानता होते हुए भी दोनों में अन्तर है। जीवनी में हम व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन या उसके अधिक से अधिक हिस्से को लेते हैं और उसे निश्चित क्रम में चित्रित करते हुए अंत तक पहुँचते हैं। लेकिन संस्मरणों में संबंधित व्यक्ति के जीवन को कहीं से भी उठा सकते हैं, उसके जीवन के कुछ चुने हुए प्रसंगों को लेकर ही उसकी विशेषता प्रदर्शित करते हैं। इस रूप में जीवनियों और संस्मरणों में वही भेद है जो आत्मकथा और आत्म-संस्मरणों में होता है। यदि जीवनी एक विस्तृत वन-भूमि है तो संस्मरण उसका एक विशेष भू-भाग।

जीवनी की विशेषताएँ

जीवनी में वर्णित चरित्र का अंतर और बाह्य दोनों चित्रित होता है। वास्तव में व्यक्ति क्रियाओं और मनोभावों की संगठित इकाई है, जो समाज के बीच पनपता और फूलता-फलता है। इस दृष्टि से वह समाज की उपज है और अपनी इस विशेषता को चरितार्थ करता हुआ समय और समाज को गति और मोड़ देता है। इस प्रकार जीवनी-लेखक को वर्णित चरित्र का सब कुछ दर्शाना होता है। एक और तो वह व्यक्ति के जीवन की सामान्य से सामान्य घटना और प्रसंग पर दृष्टि रखता है दूसरी ओर उन प्रसंगों और घटनाओं के मूल में व्यक्ति की जो धारणा, मनोभाव और प्रकृतियाँ होती हैं, उन पर भी प्रकाश डालता है। एक ओर व्यक्ति को परिवेश के अंग के रूप में चित्रित करना और दूसरी ओर उसकी उपलब्धियों का आकलन करते हुए यह दर्शाना कि उसने युग और जीवन को कहां तक प्रभावित किया जीवनी को केवल जीवनी नहीं रहने देता वरन् वर्णित चरित्र के समय और समाज का इतिहास बना देता है। लेकिन यह इतिहास प्रायः इस रूप में प्रस्तुत होता है कि उसके मूल में वह चरित्र ही दीख पड़ता है। इस रूप में विचार करने पर हम कह सकते हैं कि जीवनी वह साहित्य-रूप है जो सौर-मंडल की भांति होता है। जिस प्रकार सौर-मंडल के केन्द्र में सूर्य रहते हैं और उसके इर्दगिर्द अन्य ग्रह-उपग्रह घूमते रहते हैं, उसी प्रकार जीवनी में वर्णित-चरित्र ही केन्द्र

रूप होता है और घटनाएँ और प्रसंग और अन्य चरित्र उसके इर्द-गिर्द घूमते हुए प्रकारान्तर से उसी की विशेषता प्रदर्शित करते हैं।

जीवनियाँ एक की या अनेक की

जीवनी में वर्णित चरित्र बहुधा ऐसे होते हैं जो अपने समय और क्षेत्र के विशेष व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्तियों का जीवन स्वभावतः ही अन्य अनेक लोगों से घिरा रहता है। ये भी कई अर्थों में विशिष्ट होते हैं। अब वर्णित चरित्र के जीवन की गतिविधियों का उल्लेख करते समय स्वभावतः ही उसके सम-सामयिकों का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। ऐसा किये बिना वर्णित चरित्र अपनी सम्पूर्णता में उभर नहीं सकता। उदाहरण के लिये महात्मा गांधी की जीवनी लिखते समय उन असंख्य नेताओं-पटेल, नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, कृपलानी आदि को नहीं भूला जा सकता—जो उनके निकट सम्पर्क में थे और जिनके सहयोग से गांधी जी ने एक से एक दुस्तर कार्य कर दिखाये। लेकिन इस प्रासंगिक चरित्रों का उल्लेख करते समय यह तथ्य ध्यान में रखना होगा कि स्वयं ये चरित्र मूलचरित्र से महत्वपूर्ण न मालूम होने लगें। यदि जीवनी में वर्णित चरित्र सच ही प्रासंगिक चरित्रों से प्रबल है तब तो इसका सवाल ही नहीं उठता। लेकिन यदि ऐसा हो कि जीवनी में वर्णित चरित्र द्वितीय कोटि का हो और उसके जीवन में प्रथम कोटि के चरित्रों का प्रवेश रहा हो तो भी उन चरित्रों को इस ढंग से दिखाना होगा कि ऐसा कहीं नहीं लगे कि लेखक इनकी योजना इसलिये कर रहा है कि इनकी तुलना में मूल-चरित्र कुछ फीका या प्रभावहीन जंचे। सम्बद्ध चरित्रों की विशेषताओं को दर्शाते हुए भी मूल-चरित्र की रंग-रेखाओं पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने देना जीवनी-लेखक का मुख्य कर्त्तव्य है।

वर्णित चरित्र के जीवन काल में एक से एक घटना घट सकती है लेकिन उनका उल्लेख तभी होगा जबकि उन घटनाओं ने वर्णित चरित्र को प्रभावित किया हो या स्वयं चरित्रनायक ने उन घटनाओं में कुछ जोड़ने घटाने की कोशिश की हो। वर्णित चरित्र के समय की असंख्य घटनाओं और प्रसंगों का अकारण उल्लेख जीवनी के प्रभाव को बिखेर देता है।

जीवनियां महान व्यक्तियों की होती हैं लेकिन ये महान व्यक्ति महान पैदा नहीं होते। जन्म लेते समय तो ये औसत आदमी की भांति ही होते हैं। बहुधा महान हो जाने पर भी इनका जीवन औसत आदमियों के जीवन से भिन्न नहीं होता। इसलिये जीवनी-लेखक को वर्णित चरित्र को इस रूप में लेकर आगे बढ़ना है कि वह पहले से एक औसत चरित्र मालूम हो लेकिन ज्यों-ज्यों

वह उसके जीवन की परतों को उघारता जाय त्यों-त्यों वर्णित चरित्र की महानता प्रत्यक्ष होती जाय। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य-कोश का कथन कि 'जीवनी लेखक के लिये उचित है कि वह चरित्र नायक के जीवन को क्रमशः अन्वेषित एवं उद्घाटित करे' उचित है। प्रारम्भ से ही चरित्र नायक में महत्ता और विलक्षणता के दर्शन करने लगना अच्छा नहीं रहता क्योंकि ऐसा करने से नायक का चरित्र स्वाभाविक रूप से निर्मित नहीं हो पाता है।

जीवनियाँ जीवन-कालमें या मरणोपरान्त

जीवनी चरित्र-नायक के जीवन-काल में ही लिखी जाय या उसके मरने के बाद यह प्रश्न भी प्रायः पूछा जाता है। इस प्रश्न को लेकर विवेचकों के दो दल हो जाते हैं। कुछ तो यह कहते हैं कि जब जीवनी में सम्पूर्णता को महत्व दिया जाता है तो जीवनी ऐसे ही व्यक्तियों की लिखी जानी चाहिये जो अपना सम्पूर्ण जीवन जी चुके हैं अर्थात् इहलीला समाप्त कर चुके हैं। दूसरे दल के लोग यह कहते हैं कि यह कोई आवश्यक नहीं कि जीवनी चरित्रनायक के मरने के बाद ही लिखी जाय। उनके अनुसार जीवन के यथेष्ट भाग को आधार बनाकर भी जीवनी लिखी जा सकती है। शिप्ले इन दोनों ही बातों को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जीवनी को नायक के सम्पूर्ण जीवन अथवा उसके यथेष्ट भाग की चर्चा करनी चाहिये।

जो व्यक्ति अपना जीवन-काल समाप्त कर चुका है उसकी जीवनी लिखने में सुविधा रहती है। तब चरित्र का अंतिम-रूप जीवनी-लेखक के सामने होता है। लेकिन यदि चरित्रनायक जीवित है और उसकी जीवनी लिखनी है तो लेखक को पहले तो यह देखना होता है कि वह विशेष मंजिल तक पहुँच चुका है या नहीं अर्थात् उसका जीवन जीवनी लिखने के लायक है या नहीं। यों विकास के क्रम में गतिशील चरित्रों की जीवनियां भी लिखी जाती हैं। इनमें लेखक को मात्र इतना दर्शाना होता है कि ये विशिष्ट जीवन जीने के क्रममें है। पर ऐसी जीवनियां प्रायः कम लिखी जाती है। अधिकांश जीवनियां तो ऐसे लोगों की लिखी जाती हैं जो जीवन के ऊबड़-खावड़ रास्ते को तयकर विशेष मंजिल पर पहुँच चुके हैं और उस रूप में उनकी कुछ निश्चित उपलब्धियां हैं जो जन-सामान्य के लिये प्रेरणा का कारण हैं। लेकिन ऐसे चरित्रों की जीवन-कथा लिखते हुए लेखक को इस बात के लिये सतर्क रहना है कि वे चरित्र-नायक के जीवन को एकदम पूर्ण न दिखा दें अर्थात् उसके चरित्र की सम्भावनाओं का द्वार सदा के लिये बन्द न कर दें। ऐसे जीवित चरित्र किसी भी क्षण जिन्दगी की किसी दूसरी पगडंडी पर पांव बढ़ा सकते हैं। इसलिये

ऐसे चरित्रों की जीवनियाँ लिखते समय लेखक को अपना अंतिम मत व्यक्त करते समय सतर्क रहना होगा।

जीवनी-लेखक चरित्र के जीवन-काल से ठीक उस काल का अर्थ नहीं लेता जबकि वह औसत आदमियों की तरह जीता है। कोई राजनेता सौ वर्षों तक जीवित रह सकता है लेकिन उसका कार्यकाल साठ सतर वर्षों तक ही सीमित हो सकता है। अब जीवनी-लेखक उसके जीवन को लिपिबद्ध करना चाहता है तो वह उसके जीवनकाल का अर्थ इन्हीं साठ-सतर वर्षो का लेता है। इस दृष्टि से यदि कोई चरित्र नायक जीवित है लेकिन अपना कार्यकाल समाप्त कर चुका है तो उसकी जीवनी लिखने में लेखक को वैसी ही सुविधा रहती है जैसी कि मृत व्यक्ति की जीवनी लिखने में। इस मामले में उसे एक दूसरी सुविधा भी रहती है। वह जीवनी लिखते हुए चरित्रनायक से भेंट मुलाकात भी कर सकता है और हर प्रसंग और घटना के बारे में चरित्रनायक का प्रत्यक्ष अभिमत प्राप्त कर सकता है।

जीवनी लेखक का दायित्व

जीवनियां वीर-पूजा की भावना से प्रेरित होकर लिखी जाती हैं यह पहले ही कहा जा चुका है। इस प्रकार यह स्पष्ट हैं कि जीवनी-लेखक वर्णित चरित्र के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान की भावना रखता है। इस बात को लेकर वह लेखन-क्रम में एक अपूर्व उत्साह से प्रेरित होता है। सुन्दर जीवनियां लिखने के लिये यह आवश्यक है। ऐसा इसलिये कि यदि जीवनी लेखक चरित्रनायक के जीवन की महता से भलीभांति प्रेरित और प्रभावित नहीं है तो वह जीवनी को सुन्दर कलात्मक और प्रेरणाप्रद रूप नहीं दे सकता। लेकिन इसी क्रम में जीवनी लेखक को उत्साह के अतिरेक के प्रदर्शन से बचना भी है। यह एक कठिन कार्य है। हृदय से जीवनी-लेखक चरित्रनायक की महता से जितना भी अभिभूत हो जीवनी लिखते समय उसे कलाकार की तटस्थता बनाये रखनी है। यदि ऐसा नहीं हो, तो जीवनियां प्रशस्तियां हो जायं। इस दृष्टि से जीवनी-लेखक को इस बात के लिये सचेष्ट होना पड़ता है कि जीवनी-लेखन में उसका कौशल भले ही स्पष्ट हो, लेकिन वह स्वयं स्पष्ट नहीं हो। अपने को छुपाते हुए कौशल पूर्वक वर्णित चरित्र को उसके समस्त पहलुओं के साथ उजागर कर देना जीवनीकार का प्रमुख दायित्व है।

जीवनियों के प्रकार

जीवनियों के कितने ही प्रकार हो सकते हैं। हिन्दी-साहित्य-कोश में इसका उल्लेख किया गया है। आत्मीय जीवनी, लोकप्रिय जीवनी, विद्वतापूर्ण

जीवनी, मनोवैज्ञानिक अथवा व्याख्यात्मक जीवनी और लिटन स्ट्रैची द्वारा विकसित व्यंग्यात्मक जीवनी। परन्तु शिप्ले के अनुसार जीवनियों के ये समस्त प्रकार किसी न किसी रूप में एक ही मोटे वर्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं जिसे उपदेशात्मक जीवनी कहा जा सकता है।

जीवनी-लेखन कष्टसाध्य कार्य

जीवनी-लेखन रचना के अन्य प्रकारों की तरह सरल नहीं है। इसमें लेखक को काफी दौड़-धूप और छानबीन कर सामग्रियों का चुनाव करना होता है। इस संबंध में केशल ने बताया है कि जीवनी-लेखक को किन-किन स्त्रोतों का सहारा लेकर आगे बढ़ना चाहिये। उनके अनुसार पहले तो जीवनी लेखक को वर्णित चरित्र से संबंधित वे सभी रचनाए पढ़ लेनी चाहिये जो पहले के लेखकों ने लिखी हों। इसके साथ ही उसे चरित्रनायक द्वारा लिखित पत्रों और डायरियों आदि का भी संधान करना चाहिये और उनमें जो बातें हों उनका उपयोग कर लेना चाहिये। फिर वर्णित चरित्र के जो समकालीन हैं उनसे वर्णित चरित्र की विशेषताओं के संबंध में विचार विमर्श करना चाहिये या उनकी लिखी उस विषय से संबंधित रचनाएँ देखनी चाहिये। इस क्रम में उन स्थानों पर जाकर भी वास्तविकता को जानने की चेष्टा करनी चाहिये जहां चरित्रनायक रहा है। इस प्रकार जब विविध सूत्रों का सहारा लेकर जीवनी-लखक आगे बढ़ता है तो वह लेखन के लिये प्रामाणिक सामग्रियों का चयन करता है। इसके बाद ही कलाकार के दायित्व को निबाहते हुए जीवनी लिखने का प्रश्न उपस्थित होता है।

डायरी

•

डायरी नितान्त व्यक्तिगत लेखन है, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से इसका विकास एक साहित्य-विधा के रूप में भी किया जा रहा है। अब तो यह एक सर्व-स्वीकृत साहित्य माध्यम के रूप में मान्यता भी प्राप्त कर चुका है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में डायरी के पृष्ठ, साहित्यिक डायरी आदि स्तम्भ चलाये जा रहे हैं और पुस्तक रूप में 'डायरी के नीरस पृष्ठ' (श्री इलाचन्द्र जोशी) 'कालेज-जीवन की डायरी' (श्री धीरेन्द्र वर्मा) आदि कितनी पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। इस अवस्था में, इस विधा की विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है।*

साहित्य-विधा के रूप में डायरी-लेखन का विकास, सम्भवत; इस बात के कारण हुआ लगता है कि इसमें और साहित्य-विधाओं की अपेक्षा ईमानदारी अधिक है। डायरी को नितान्त निजी कार्यों, विचारों और भावनाओं के विश्वस्त विवरणों के रूप में प्रस्तुत करना स्वाभाविक ही है।** इसमें

---

* सत्रहवीं शताब्दी से ही इंगलैण्ड में डायरी लिखने की प्रथा प्रचलित रही है। उस समय के डायरी लेखकों में सर विलियम डगलेस, जार्ज फाक्स, जॉन इवलिन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सत्रहवीं शताब्दी का सबसे बड़ा डायरी लेखक सैमुएल पेप्स हुआ। १६६० ई० की १ जनवरी को उसने डायरी लिखना शुरू किया और १६६६ की २६ मई तक अनवरत रूप से अपने विचारों और भावनाओं को व्यक्त करता रहा। पेप्स की डायरी सांकेतिक भाषा में लिखी गई है। १८२५ ई० में पहली बार सेमुएल पेप्स की डायरी प्रकाशित हुई थी।

—साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियाँ, जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १११-१२

** A Diary from the Latin dies, a day, is a book in which are entered the daily accounts of events and actions which come under the writer's personal observations or are related to him by others.

—The study of literature. Page 130

लेखक की नितान्त वैयक्तिक रुचि की ही प्रधानता होती है। किसी घटना, वस्तु या विचार के प्रति लेखक की निजी प्रतिक्रिया क्या है—यह जानने के लिए डायरी सबसे उपयुक्त साधन है। अन्य साहित्य-विधाओं की रचना के समय लेखक अतिरिक्त भाव से सचेष्ट रहता है। उदाहरण के लिए, एकांकी लिखते समय दर्शकों की मनोवृत्तियों और स्टेज की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखना पड़ता है। कहानियों की रचना के क्रम में यथार्थ का भावबोध, समस्यामूलकता, कथानक और उसके विभिन्न उपकरण के सम्यक् सन्तुलन आदि पर ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी प्रकार, रिपोर्ताज या शब्द चित्र की रचना करते हुए लेखक को लेखकीय दायित्व को निभाना पड़ता है और जिस विधा में रचना की जा रही होती है उसकी विशेषताओं का अनुगमन करना पड़ता है। मसलन, रिपोर्ताज-लेखन में सामने की वास्तविकता नजर-अन्दाज नहीं करनी होगी, क्रम-क्रम से उसी के विभिन्न स्तर उद्घाटित करने होंगे, कल्पना का पुट देने के लिए कम अवकाश होगा। अर्थात् इन सभी साहित्य-विधाओं के लेखन में लेखक के ऊपर एक बाध्यता होती है, सीमा का बन्धन होता है, वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र नहीं हो पाता। लेकिन डायरी डायरी है इस रूप में इसमें पर्याप्त विविधता की गुंजाइश है।

यदि डायरी व्यक्ति-मानस का चित्र है तो मानी हुई बात है कि सबकी डायरियाँ अलग-अलग ढंग की होंगी। इस दृष्टि से डायरी का कोई बना-बनाया ढाँचा नहीं होता और न उसका निर्धारण किया जा सकता है। इसलिए एक साहित्य-विधा के रूप में इसके कोई रूढ़-निश्चित लक्षण नहीं हैं जिनका पालन डायरी लेखक के लिए अनिवार्य हो ही। वह अपने सामने जो भी पैटर्न रखेगा वह स्वाभाविक और उचित होगा। इस दृष्टि से यह बड़ा लचीला साहित्य-रूप है, जिसको लेखक जिस भी ढंग से चाहे, मोड़ सकता है और मनमाना रूप दे सकता है।

जिस प्रकार डायरी में शैली की विविधता की पूरी गुंजाइश है, उसी प्रकार इसमें अनेक विषयों का समावेश हो सकता है। नितान्त वैयक्तिक भावों के ऊहापोह से लेकर साहित्य, राजनीति, धर्म और दर्शन की समस्याओं तक का इसमें समावेश हो सकता है। हाँ, इनकी समाविष्टि के क्रम में इस बात पर ध्यान रखना होगा कि विषयों का प्रस्तुतीकरण प्राय: ऐसा हो जो यह सिद्ध कर सके कि लेखक ने इन्हें डायरी के रूप में ही सोचा-समझा और लिखा है। इसलिए विषयों का वैविध्य रहते हुये भी, उन सबके बीच से

लेखक की वैयक्तिक रुचि का उभरकर प्रत्यक्ष हो उठना अनिवार्य है। फिर डायरी में विभिन्न विषयों का प्रवर्त्तन और प्रतिपादन इस ढंग से भी होना चाहिये कि मालूम हो कि चर्चित विषय लेखक के घनिष्ट आसंगों मे से हैं। वर्ण्य-वस्तु पर अपनी प्रतीति की छाप डायरी लेखक के लिए सबसे आवश्यक है।

डायरी-लेखक का प्रमुख गुण शैली की सहजता है। जिस प्रकार डायरी लिखते समय हमारे सामने कोई पाठक-समुदाय नहीं होता, न मन में उसको प्रभावित करने की बात होती है, न हम किसी आलोचक या प्रशंसक की कल्पना करते हैं, वरन् केवल अपनी आत्मा की तुष्टि के लिए, विचारों को स्वाभाविक राह देने के लिए लिखते हैं, उसी प्रकार डायरी लेखक को भी इस भाव से डायरी लिखनी होगी कि पाठक समझें कि उसने किसी लेखक को उसके एकान्त में, उसकी स्वाभाविकता में देखा है। यदि डायरी पढ़ने पर ऐसा लगे कि वह पहले से छपने के लिए उद्देश्य से लिखा गया है, तो वह डायरी नहीं होगी, और जो कुछ भी हो।[1]

डायरी में विवरणात्मकता भी हो सकती है और कथोपकथन भी। उसमें एक से अधिक पात्रों का समावेश भी किया जा सकता है और उनकी गतिविधियाँ भी अंकित की जा सकती हैं और उनके चरित्र के बारे में भी कुछ संकेत दिये जा सकते हैं। लेकिन, यह सब कुछ होते हुए भी, वहाँ लेखक का 'मैं' ही प्रधान होगा। जिस प्रकार हम अपने कमरे की खिड़की से बाहरी दृश्यों, घटनाओं और लोगों को देखते हैं, लेकिन साथ ही यह भी नहीं भूलते कि दृश्यों को जोड़ने वाली यह खिड़की ही है, उसी प्रकार डायरी लेखन में भी घटनाएं, विवरण, चरित्र, कथोपकथन, सबके मूल में लेखक का 'मैं' ही होता है। इस रूप में डायरी उत्तम पुरुष में वर्णित कहानी के आस-पास की चीज होती है।

डायरी-लेखन का विकास उसी समाज में सम्भव है जहाँ वैयक्तिकता का पर्याप्त प्रसार है। आधुनिक यंत्र-सभ्यता ने लोगों को अकेलेपन की जो अनुभूति दी है, उससे अकेलेपन का महत्व बढ़ गया है। हर व्यक्ति जानता है कि वह अकेला है। फिर हरेक का अकेलापन अपनी अपनी किस्म का है। लेकिन, फिर भी एक-दूसरे को एक-दूसरे के अकेलेपन में रुचि मालूम होती है। इस-

---

१. When the diary is kept not with a view to subsequent publication but merely to aid one's memory, it is a genuine and trustworthy record. —Ibid

लिए वह दूसरे के अकेलेपन से परिचित होना चाहता है। यह उसकी सामाजिक जीवन की माँग है। एक दूसरे के इस अकेलेपन से परिचित होने के लिए डायरी सबसे उपयुक्त माध्यम है।

आधुनिक सभ्यता ने जबकि आदमी को दुहरी और तिहरी जिन्दगी व्यतीत करने के लिए बाध्य कर दिया है, तो उसकी आन्तरिकता कहीं बहुत गहरे जाकर छिप गई है। जगत् के नाना प्रपंचों में मनुष्य का प्रकृत रूप खो सा गया है। सभ्यता के आवरण इतने विविध और मोटे हैं कि सरल-सहज मनुष्यता ढूँढे नहीं मिलती। यों तो आज का सम्पूर्ण साहित्य ही इन प्रपंचों की बखिया उधेड़ने पर लगा है, लेकिन डायरी-लेखक सहज ही आज के मानव के बाह्य आवरण को भेदकर उसकी आन्तरिकता को प्रकाशित कर सकता है।

डायरी और संस्मरण

डायरी और संस्मरण में बहुत दूर तक समानता है।[1] डायरी भी आखिर क्या है? बीती घटनाओं का लेखा-जोखा, या मन में आये हुए भावों और विचारों की तस्वीर! इस दृष्टि से इसमें संस्मरण के तत्व भी होंगे। पर संस्मरण और डायरी में जो महत्वपूर्ण अन्तर है,[2] वह यह कि डायरी से हमारा निकट का सम्बन्ध होता है, जबकि संस्मरण में हम दूर की घटनाओं को उठाते हैं। डायरी में हम तुरत की बीती बातों का हवाला देते हैं, जो बहुधा वर्तमान की-सी मालूम होती है, जबकि संस्मरण में जो बातें कही जाती हैं, वे कब की बीती रहती हैं। उनके बारे में लिखते समय ऐसा लगता है कि स्मृति का सहारा लेकर उन्हें लिखा जा रहा है। डायरी की वास्तविकता सामने की वास्तविकता होती है, जबकि संस्मरण की वास्तविकता को पीछे मुड़कर देखना पड़ता है। डायरी में हम उस वर्तमान की बात भी कर सकते हैं जो अभी बीता नहीं है, जबकि संस्मरण में ऐसा करने की सुविधा नहीं होती है।

---

१. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड) में कहा गया है—डायरी, संस्मरण आदि सभी रचनाएँ एक ही कोटि में रखी जा सकती हैं क्योंकि सभी में लेखक अपने जीवन की घटनाओं, अनुभवों और प्रतिक्रियाओं का विवरण प्रस्तुत करता है। पृ० ८३

२. डायरी अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक मुक्त और असमबद्ध होती है इसकी प्रधान विशेषता इस बात में है कि इसमें लेखक अपने जीवन की घटना का ऐसा विवरण प्रस्तुत करता है जो तत्कालिक होने के कारण अधिक सजीव एवं सरस होता है। वही, पृ० ८३

डायरी और आत्मकथा

डायरी व्यक्ति-मानस का चित्र है और इस रूप में आत्मकथा के निकट है। यदि यह सत्य है कि व्यक्ति डायरी में अपने अन्तरंग क्षणों को वाणी देता है तो यह उसकी आत्मकथा ही है लेकिन आत्मकथा और डायरी में अन्तर यह है कि आत्मकथा में एक व्यवस्था होती है, उसमें आदि से लेकर अन्त तक के विवरण रहते हैं, जीवन के विविध प्रसंगों की समायोजना रहती है, पर डायरी में यह सम्भव नहीं है। उसमें तो कुछ चुने हुए प्रसंगों को ही स्थान देना पड़ता है। प्रतिदिन हमारे जीवन में कितने ही प्रसंग आते हैं। उनमें से जो मार्मिक, रोचक और मन को झकझोरने वाले होते हैं उन्हें ही डायरी में स्थान दिया जाता है। फिर डायरी में आये अनेक प्रसंगों के पूर्वापर सम्बन्ध को भुलाया भी जा सकता है, प्रसंग एक-दूसरे से स्वतन्त्र भी हो सकते हैं। आज की डायरी कल की डायरी से नितान्त भिन्न भी हो सकती है, जबकि आत्मकथा में पूर्वापर सम्बन्ध के साथ-साथ एक तारतम्य रहता है। आत्मकथा का कोई प्रसंग डायरी के किसी प्रसंग की भाँति रोचक हो सकता है, पर उसकी रोचकता अधिकतर कथा की सम्पूर्णता पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से आत्मकथा और डायरी में वही अन्तर है जो प्रबन्ध-कविता और गीतिकाव्य में।

डायरी डायरी के रूप मे लिखी जाये यह आवश्यक है। लेकिन इसके साथ एक स्पष्टीकरण भी अपेक्षित है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि डायरी प्रतिदिन लिखी ही जाये। यदि प्रतिदिन का जीवन ऐसा प्रेरक, घटनापूर्ण और भाव-प्रधान है तो वह रोज-रोज के हिसाब से लिखी जा सकती है लेकिन यदि ऐसा है कि बीच-बीच का दैनन्दिन जीवन रूखा-सूखा, आकर्षणहीन और बेरौनक है तो उन क्षणों में डायरी लिखना केवल खानापूरी करना ही होगा। व्यस्त से व्यस्त व्यक्ति के जीवन में भी ऐसे कुछ क्षण आते हैं जिनका रचनात्मक दृष्टि से कोई मूल्य नहीं होता। ऐसे क्षणों में डायरी लिखना व्यर्थ है।

———

पुस्तक-समीक्षा

•

साहित्य के नये रूपों के अन्तर्गत पुस्तक-समीक्षा की गणना भी होनी चाहिये। इसके लिये अंग्रेजी में 'बुक रिव्यू' शब्द प्रचलित है। हिन्दी में इसे पुस्तक-परिचय और पुस्तकालोचन आदि भी कहा जाता है।

पुस्तक-समीक्षा का सबसे प्रारम्भिक रूप उसका परिचयात्मक रूप है। इसे कुछ लोग परिचयात्मक आलोचना का पर्याय भी कहते हैं। भारतेन्दु युग में जब आलोचना का सूत्रपात हुआ तो वह अधिकतर परिचयात्मक पुस्तक-समीक्षा के रूप में ही सामने आया। इस दिशा में 'आनन्द कादम्बिनी' नामक मासिक पत्रिका (सन् १८८१ ई०, मीरजापुर) ने, जिसके सम्पादक बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' थे, अच्छा काम किया।

परिचयात्मक आलोचना और परिचयात्मक पुस्तक-समीक्षा में भेद है। परिचयात्मक आलोचना में कृति का विस्तृत व्यवस्थित परिचय दिया जाता है। यह परिचय काफी लम्बा हो सकता है। यह मुख्यतः औसत पाठकों के लिये लिखा जाता है। कृति का सांगोपांग परिचय देना इसका उद्देश्य होता है। लेकिन जब पुस्तक-समीक्षा परिचयात्मक रूप में लिखी जाती है तो वह अत्यन्त संक्षिप्त होती है। हिन्दी की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'कल्पना' में पुस्तक-परिचय (नये प्रकाशन नाम से) और पुस्तक-समीक्षा ये दो स्तम्भ हैं। ऐसी पुस्तकें, जो समीक्षा योग्य नहीं होतीं, पुस्तक-परिचय स्तम्भ के अन्तर्गत चर्चित होती हैं। इनकी चर्चा अत्यन्त संक्षिप्त होती है—बहुधा चार पाँच पंक्तियों से लेकर आठ दस पंक्तियों में खत्म हो जाती है। यह संक्षिप्ति पुस्तक की सामान्यता का द्योतक है। पुस्तकें जब किसी पत्रिका में समीक्षार्थ भेजी जाती हैं तो उनकी समीक्षा होनी चाहिये। यह पत्र-सम्पादक पर नैतिक बाध्यता है। लेकिन यदि पुस्तक ऐसी हो कि साहित्य और सम्बन्धित पत्रिका के स्तर को देखते हुए समीक्ष्य न हो, तो उसका परिचय मात्र देकर सम्पादकीय कर्तव्य से छुट्टी पा ली जाती है। इस प्रकार परिचयात्मक साहित्यिक आलोचना और परिचयात्मक पुस्तक-समीक्षा में न केवल आकार का भेद होता है, वरन् प्रकार का अन्तर भी होता है। परिचयात्मक आलोचना जहाँ कृति का महत्व सूचित करती है वहाँ परिचयात्मक पुस्तक-समीक्षा उसकी सामान्यता

सूचित करती है। परिचयात्मक आलोचना लिखने की आवश्यकता वहाँ होती है जहाँ समझा जाता है कि कृति उपयोगी है पर पाठकों को उसकी उपयोगिता ज्ञात नहीं है। इस दशा में आलोचक अपना यह कर्तव्य समझता है कि वह पाठकों को कृतिविशेष से परिचित कराये। लेकिन परिचयात्मक-पुस्तक-समीक्षा-लेखन में ऐसा कोई दृष्टिकोण नहीं होता, वह सम्पादक के नैतिक और साहित्यिक कर्तव्य का पालन भर है। पाठकों के लिये उसकी मात्र इतनी उपयोगिता है कि उससे कृति विशेष के सम्बन्ध में संक्षिप्त सूचना मिल जाती है।

परिचयात्मक पुस्तक-समीक्षा को पुस्तक-परिचय कहना अधिक ठीक है। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में इस स्तम्भ के चलाये जाने का मेरे जानते कोई विशेष महत्व नहीं है। प्रकाशक इसका व्यावसायिक महत्व समझते हैं पर वह भी ठीक-ठीक है नहीं। सम्पादक यह स्तम्भ इसलिये चलाते हैं कि ऐसा करने से पुस्तक-समीक्षा का उनका काम आसान हो जाता है। वे ऐसी बहुत सी पुस्तकों को, जो अत्यन्त सामान्य रहती है; इस स्तम्भ के बट्टे खाते डालकर निश्चिन्त हो जाते हैं, समझ लेते हैं कि उन्होंने समीक्षा करने के कर्तव्य का पालन कर लिया। लेकिन उनके वैसा करने से न तो प्रकाशकों का कोई उपकार होता है और न लेखकों और पाठकों का। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के पाठकों को पुस्तक के बारे में उतनी सूचनाएँ, जो पत्रिका में पुस्तक-परिचय स्तम्भ के अन्तर्गत छपी होती हैं, मालूम होती हैं। उससे अधिक कुछ न पाकर उनकी झुंझलाहट बढ़ती है और एक ओर तो वे सम्पादक को मात्र खाना-पूरी करते हुए समझते हैं और दूसरी ओर कृति को अत्यन्त सामान्य समझ लेते हैं। इससे उनके मन में कृति विशेष के प्रति एक पूर्वग्रह कायम हो जाता है। यह प्रकाशकों और लेखकों के लिये कतई लाभदायक नहीं है। इस बात को ध्यान में रखकर ही आज के प्रकाशक अपने प्रकाशनों के प्रचार प्रसार के लिये मासिक प्रकाशन बुलेटिनों का प्रकाशन करने लगे हैं। 'प्रकाशन समाचार' 'हिन्दी प्रकाशक', 'हिन्दी प्रचारक', 'साहित्य संगम' 'साहित्य परिचय', 'आज का प्रकाशन' आदि ऐसे ही प्रकाशन हैं। इनमें कम से कम वे अपने प्रकाशनों के बारे में मनोनुकूल लिख-लिखा तो सकते हैं। वास्तव में पुस्तक-परिचय देने का काम ये पत्रिकाएँ बखूबी करती हैं। इन्हें पाठक पढ़ते भी इसी उद्देश्य से हैं।

पुस्तक-समीक्षा गम्भीरतर लेखन कार्य है। यह साहित्यिक आलोचना का प्रारम्भिक रूप है। साहित्यिक आलोचना के रूप और स्तर इसी के

कारण वनते और विगड़ते हैं । यदि किसी युग की आलोचना का प्रकृत रूप देखना हो तो वह पुस्तक समीक्षा में देखा जा सकता है । पुस्तक समीक्षा को अब आलोचना के बीज-रूप में स्वीकृति भी मिल रही है । इस दृष्टि से हिन्दी में डा० देवीशंकर अवस्थी ने अच्छा काम किया हैं । उनके द्वारा सम्पादित 'विवेक के रंग' पुस्तक-समीक्षाओं का एक ऐसा संकलन है जो हिन्दी आलोचना का एक निर्दिष्ट और गठित रूप सामने रखता है । पुस्तक-समीक्षा में आलोचना का अधिक प्रकृत और स्वच्छन्द रूप देखा जा सकता है । एक परिपूर्ण चित्र (फिनिश्च्ड पेंटिंग) और स्केच में जो भेद है वही भेद आलोचना और पुस्तक-समीक्षा में है । जिस प्रकार स्केच में केवल एक रंग और थोड़ी सी रेखाओं से चित्रकार अपना मंतव्य व्यक्त कर देता है उसी प्रकार पुस्तक-समीक्षा की संक्षिप्ति और इकहरी अन्विति में ही पुस्तक-समीक्षक का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है । स्केच के मूलगत अभिप्राय को जैसे चित्र में अधिक व्यवस्थित और प्रभावशाली वनाने के लिये विविध रंगों और पतली और मोटी रेखाओं आदि का प्रयोग किया जाता है वैसे ही पुस्तक-समीक्षा के मूल आभिप्राय को आलोचना में व्यवस्थित और प्रभावकारी वनाया जाता है ।

पुस्तक-समीक्षा लेखन दो स्तरों पर विकसित हो सकता है—कला के स्तर पर और साहित्यिक कर्तव्य के स्तर पर । जव कला के स्तर पर इसे विकसित करने की वात सोची जायगी तो इसका लेखन अधिक कौशलपूर्ण वनाया जायगा अर्थात् तव पुस्तक-समीक्षा से न केवल पुस्तक या उसके लेखक के वारे में वरन् पुस्तक-समीक्षक के वारे में भी, उसके लेखकीय कौशल और साहित्यिक आदर्श के वारे में भी, एक धारणा वनायी जा सकेगी । अव इस प्रकार की पुस्तक-समीक्षाएँ लिखी जाने लगी हैं । इनमें पुस्तक की सांगोपांग विशद आलोचना उतनी नहीं होती, जितनी समीक्षक की मौलिक और कलापूर्ण दृष्टि का आस्फालन होता है । इस प्रकार की समीक्षा में किसी कृति को पढ़कर उसके गुणों और दोषों को गिनाना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह दर्शाना कि समीक्षक ने अपनी मूल दृष्टि के कारण कृति में किन दोषों या गुणों का अनुसंधान किया है । इसी एक वात की विवृति इतने मार्मिक और प्रभावशाली ढंग से की जाती है कि पुस्तक-समीक्षा रचनात्मक कृति वन जाती है और उसे पढ़ कर पाठकों को आनन्द और वैचारिक-उत्तेजना का वोध होता है ।

इस प्रकार के समीक्षा लेखन में समीक्षक का यह दृष्टिकोण भी हो सकता है कि पाठक के नाते उसकी ईमानदारी के अनुभव समीक्षक के अनुभव

से भिन्न हों। समीक्षक पाठक भी होता है। पाठक के रूप में उसकी अपनी पसन्द और नापसन्द की सीमाएँ होती हैं। लेकिन उसके समीक्षक को उन सीमाओं से घिर कर नहीं चलना चाहिये। समीक्षक मुख्यतः समग्र साहित्यिक और सामयिक बोधों से चालित होता है। यहीं वह सामान्य पाठकों से भिन्न है। किसी कृति को कोई समीक्षक एक पाठक के नाते पढ़ते हुए नापसन्द कर सकता है। लेकिन वह समग्र साहित्यिक और सामयिक बोधों की दृष्टि से भी नापसन्द की ही जायगी, यह जरूरी नहीं है। यहाँ पर समीक्षक को उस भूमिका में अवतरित होना चाहिये जो पाठक और समीक्षक के अन्तर के कारण बनता है। कवि आलोचक टी. एस. इलियट ने जो यह कहा है कि हर कलाकार भोक्ता होता है, कलाकार और भोक्ता का अन्तर जितना ही अधिक होगा कलाकार उतना ही बड़ा होगा उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि समीक्षक पाठक भी होता है और उसके पाठक और समीक्षक का अन्तर जितना अधिक होगा वह उतना ही श्रेष्ठ समीक्षक होगा।

श्रेष्ठ समीक्षक पाठक के रूप में व्यक्त की जाने वाली प्रतिक्रिया को, ज्यों का त्यों, समीक्षक की प्रतिक्रिया के रूप में, व्यक्त नहीं करता। यदि वह ऐसा करेगा तो समीक्षा एक सामान्य मत भर रह जायगी, वह कला के स्तर पर विकसित और प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगी। इसलिये मेरी दृष्टि में अपनी पाठकीय प्रतिक्रिया से अलग होकर जब कृति के सम्बन्ध में सामयिक और समग्र साहित्यिक और साहित्येतर बोधों को ध्यान में रखकर पुष्ट और परिपक्व विचार रखे जायेंगे, तभी वह रचनात्मक समीक्षा का रूप ले सकेगी। इस प्रकार की समीक्षा में एक प्रकार की तटस्थता, सहनशीलता और अनुद्विग्नता का होना जरूरी है। एक पाठक के रूप में जो जैसा अनुभव किया उसे ठीक वैसा, ज्यों का त्यों व्यक्त कर देना, विकसित समीक्षा-लेखन का प्रतिमान नहीं कहा जा सकता।

पुस्तक-समीक्षा-लेखन को जब कला या कौशल के रूप में लिया जायगा तो उसका एक और रूप भी सामने आयेगा। यहाँ समीक्षक कृति को लेकर मानचाहा उठा पटक भी कर सकता है। सम्भव है कोई कृति पाठकों की दृष्टि से अच्छी होने के कारण बहुत चर्चित हो लेकिन सामयिक और समग्र बोधों को देखते हुए उसका खंडन होना चाहिये। इस दृष्टि से समीक्षक पुस्तक का पारायण करता है। लेकिन पढ़ने पर पुस्तक उसे भी अच्छी लगती है। यह अच्छा लगना उसके पाठकीय बोध और संस्कार के कारण है। यहाँ समीक्षक में एक द्वन्द्व देखा जा सकता है। इस दशा में वह क्या करे? क्या

क्या वह भी कृति की प्रशंसा कर दे और इस प्रकार पाठकों को अपने संमीक्षक के बोध का परिचय न देकरके मात्र पाठक के बोध का परिचय दे ? या अपनी पाठकीय प्रतिक्रिया को अलग रखकर केवल समीक्षक के दायित्व का पालन करे ? यदि वह दूसरा काम करता है तो उसे बेईमान, द्वेषी और दम्भी कहा जाता है, आक्षेप किया जाता है कि 'रोमांटिक कविताएं पसन्द करने वाले समीक्षक रोमांटिक कविताओं का खण्डन करें इसका नैतिक अधिकार उन्हें नहीं है।' मेरे जानते यह आपत्ति नहीं की जानी चाहिये। एक समीक्षक, पाठक के नाते जासूसी उपन्यासों का प्रेमी हो सकता है। तो क्या उसे साहित्यिक उपन्यासों की आलोचना नहीं करनी चाहिये ? जहाँ पर साहित्यिक उपन्यासों में जासूसी प्रसंग आयें उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये ?

पुस्तक-समीक्षा-लेखन में ईमानदारी की बात अक्सर उठाई जाती है। लेकिन ईमानदारी कैसी ? एक पाठक की ईमानदारी ? या समीक्षक की ईमानदारी ? समीक्षा में किसका निर्वाह किया जाना जरूरी है ? अक्सर समीक्षक अपने मित्रों को यह कहते नजर आते हैं—"भई, यदि सच पूछो तो पुस्तक मुझे पसन्द नहीं आयी है। इस दशा में उसकी आलोचना लिखनी ठीक नहीं है।" यहाँ जिस ईमानदारी के निर्वाह की बात कही जाती है वह अधिकांश में पाठक की ईमानदारी होती है। एक पाठक के रूप में आप कृति को नापसन्द करते हैं और बस सदा के लिये उसे रद्द कर देते हैं, यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि वह समीक्षक के नाते पसन्द भी हो सकती है। यदि किसी समीक्षक में पाठक और समीक्षक का अलग-अलग रूप और स्तर नहीं हो, तो कुछ कहना नहीं है। लेकिन ये दोनों रूप अलग-अलग होने चाहिये। अधिकांश में ये होते हैं, लेकिन समीक्षक को इसकी ठीक-ठीक प्रतीति नहीं रहती, और न वह इन्हें अलग-अलग विकसित करने की बात सोचते हैं। ऐसे व्यक्ति समीक्षक होने का दावा करें, यह बात मुझे नहीं जँचती।

जब पुस्तक-समीक्षा को कला और कौशल के स्तर पर विकसित किया जायगा। तो इससे समीक्षक की शक्ति और क्षमता की वृद्धि होगी। ऐसा होने पर वह अच्छी से अच्छी कृति की बुरी से बुरी और बुरी से बुरी कृति की अच्छी से अच्छी समीक्षा कर सकेगा। और ऐसा करने में वह गैर ईमानदारी दर्शाता हो, ऐसा कहना सही नहीं होगा। साहित्य में भीड़वाद और समूहवाद नहीं चलते। उनका प्रत्याख्यान होना चाहिये। इसलिये विवेकवान समीक्षक का यह कर्तव्य है कि जब वह समीक्षकों को भीड़ में परिणत होता हुआ देखे, उन्हें एक ही फतवे और नारे लगाते देखे, तो उनसे अलग होकर उनका खण्डन और विरोध करे। सम्भव है उसके विरोध से सही विरोधियों का साहस बढ़े और वे और

को प्रशंसा करते देख चुप रहने के स्थान पर खुल कर सामने आयें। यह साहसिकता और विवेक समीक्षक में होना चाहिये।

पुस्तक-समीक्षा-लेखन कला के अलावा साहित्यिक कर्तव्य के रूप में भी लिया जाता है। जो इसे इस रूप में लेना चाहते हैं वे इसके लिये स्वतन्त्र हैं। सच बात तो यह है कि कुछ समीक्षक-समीक्षा के इस रूप के अलावे और कोई रूप विकसित ही नहीं कर सकते। जिस प्रकार नैतिकता कुछ लोगों की दुर्बलता होती है उसी प्रकार सीधी सरल पुस्तक-समीक्षा लिखना भी कुछ लोगों की दुर्बलता है। कुछ लोग वाक् कौशल नहीं जानते। कथन-भंगिमा में चमत्कार ले आना, लोगो को विमोहित कर लेना, उत्तेजित कर देना, ये उनके वश की बातें नहीं होतीं। अपनी इस दुर्बलता को वे यह कह कर छिपाते हैं कि 'भई, मैं तो लफ्फाजी नहीं जानता, सीधी सच्ची बातें कहता हूँ।' इसी प्रकार कुछ लोग कलात्मक पुस्तक-समीक्षा लिख नहीं पाते। वे अपनी पाठकीय प्रतिक्रिया को ज्यों का त्यों व्यक्त कर देना ही पुस्तक-समीक्षा-लेखन का आदर्श और उन्नत स्तर मानते हैं। ऐसे ही लोग पुस्तक-समीक्षा में ईमानदारी की बात उठाते हैं। ऐसे समीक्षकों की लिखी पुस्तक-समीक्षाएँ आसानी से वर्गबद्ध की जा सकती हैं। उनकी मुख्यतः तीन कोटियाँ है—(क) एकान्त प्रशंसात्मक। (ख) एकान्त ध्वंसात्मक। (ग) दोनों का मिला-जुला रूप। लेकिन ये तीनों ही रूप इतने सामान्य होते हैं कि इनमें कोई मौलिकता और चमत्कार नहीं होता, ये कलात्मक स्तर तक नहीं पहुँच पातीं। किसी कृति की ध्वंसात्मक आलोचना एक तथाकथित ईमानदारी समीक्षक भी कर सकता है और एक कुशल समीक्षक भी। लेकिन दोनों की समीक्षा में जमीन-आसमान का अन्तर होगा। एक जहाँ उसे बुरा इसलिये बताता है कि वह उसे पढ़ने में बुरी लगी है दूसरा वहाँ उसे एक वृहत्तर प्रसंग और भूमि में रखकर देखता है और इस प्रकार उसकी बुराई सिद्ध करता है। इसलिये जहाँ प्रथम द्वारा निर्दिष्ट बुराई उसके निजी सीमित बोध द्वारा आरोपित होती है, और इसलिये पाठकों को सहज ग्राह्य और विश्वस्त नहीं लगती, वहाँ दूसरे की बुराई का आरोप, तटस्थ रहते हुए भी, सही सिद्ध होता है इसलिये व्यक्तिगत बोध के पूर्वग्रह से मुक्त होने के कारण अधिक विश्वस्त और ग्राह्य होता है।

———

फैंटेसी

फैंटेसी का अर्थ है कल्पना, पर फैंटेसी साहित्य-रूप से जिन रचनाओं का बोध होता है, उनके लिये अतिकल्पना शब्द अधिक सार्थक है। इस प्रकार की रचनाएं बहुत हाल से लिखी जाती हैं, ऐसा माना जाता है—विशेषकर रेडियो के प्रचार-प्रसार के कारण, क्योंकि रेडियो के द्वारा अतिकल्पनाओं को अधिक सुगमतापूर्वक और अधिक स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है; पर रेडियो के प्रचार-प्रसार के पूर्व भी अतिकल्पनाओं की रचना हुई है। इस क्रम में भारतेन्दु-युगीन अतिकल्पनाओं या वैसे चित्रणों को लिया जा सकता है। वास्तव में अतिकल्पनाओं में कल्पना के जिस रूप के सहारे रचनाकार आगे बढ़ता है वह आदिकाल से मानव-मन की विशेषता रही है। इसलिये यह कहना कि रेडियो के प्रचार-प्रसार के कारण ही अतिकल्पनाओं का लेखन सम्भव हुआ, मनुष्य की कल्पना—शक्ति को सीमित करके देखना है।

अतिकल्पना और विश्वसनीयता

अतिकल्पना, जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है, कल्पना का वह रूप सामने रखती है, जो सहज ही विश्वसनीय नहीं मालूम होता। लेकिन, इसके सहारे जो मार्मिक अनुभूति, विचार या सत्य व्यक्त होता है, उसी के कारण यह विश्वसनीय बनता है। डॉ० सिद्धनाथ कुमार ने रेडियो-अतिकल्पनाओं पर विचार करते हुए लिखा है कि यथार्थ जगत में जिन घटनाओं का होना संभव नहीं है, उन्हें रेडियो फैंटेसी में घटित होते चित्रित किया जाता है। उन्होंने उदाहरणों से यह बात स्पष्ट की है—"कवीन्द्र-रवीन्द्र ने अपने एक निबन्ध में काव्य की अनेक उपेक्षिताओं की ओर संकेत किया है। उनमें शकुन्तला की सखियां अनुसूया और प्रियम्वदा भी हैं। कवि कालिदास ने उनकी भावनाओं के अंकन की ओर ध्यान नहीं दिया। हमारे मन में एक जिज्ञासा होती है कि वे क्या सोचती होंगी, उनके हृदय में कैसी भावनाएं उठती होंगी। इसे स्पष्ट करने के लिये सिद्धनाथ जी ने एक रेडियो फैंटेसी "वे अभी भी क्वारी हैं" की रचना की है। उस रचना का एक पात्र कलाकार माधव नामक व्यक्ति है। वह अनुसूया और प्रियम्वदा के विषय में सोचता-सोचता अपनी

सुधबुध खो बैठता है, काल की लम्बी दूरी पार कर महर्षि कण्व के आश्रम में जा पहुँचता है और उदास एवं भग्नहृदया सखियों से बातें करता है।

आज के मनुष्य ने चाहे जितनी भी वैज्ञानिक प्रगति की हो, लेकिन उसके लिये यह सम्भव नहीं है कि विगत का साक्षात्कार कर सके। कण्व, शकुन्तला, प्रियम्वदा और अनुसूया का युग बीत गया। यदि ये सभी पात्र कालिदास की कल्पना न होकर यथार्थ ही हों, तो भी इनसे साक्षात्कार सम्भव नहीं। लेकिन, "वे अभी भी क्वारी हैं" का कलाकार माधव अनुसूया और प्रियम्वदा से साक्षात्कार कर पाता है। यह असम्भव है, इसीलिये यह कल्पना विश्वसनीय नहीं मालूम होती, लेकिन लेखक ने अतिकल्पना के सहारे जिस सत्य को व्यक्त करना चाहा है, यदि उस पर ध्यान दिया जाय तो इसकी अविश्वसनीयता विश्वसनीयता में परिणत हो जाती है। शकुन्तला से बिछुड़ी भग्नहृदया सखियों से मिलकर उनके भावों से परिचित होने के लिये यह असम्भव उपक्रम भी उचित जंचता है।

अतिकल्पना का आधार

अतिकल्पना के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि उसका भी एक आधार होता है, चाहे वह आधार कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो। यह बात ऊपर के उदाहरण के विश्लेषण से स्पष्ट हो जायगी। कालिदास अनुसूया और प्रियम्वदा को उस स्थल पर छोड़ देते हैं जहां शकुन्तला उन्हें रोती-विसूरती छोड़कर अपने पति के घर के लिये रवाना होती है। इसके बाद कालिदास की दृष्टि शकुन्तला पर ही जमी रहती है। अनुसूया और प्रियम्वदा की ओर वे ध्यान नहीं दे पाते। इसलिये अनुसूया और प्रियम्वदा की स्थिति तद्वत् रह जाती है। इसीलिये आधुनिक कलाकार को उनके बारे में सोचने की आवश्यकता पड़ती है। अब यदि कालिदास अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के अन्त में, प्रसंगवश ही सही, यह कह देते कि वे भी विवाह करके पति-पुत्र के साथ सुखी हैं तो अतिकल्पना के लिये कोई आधार नहीं मिलता, क्योंकि तब उनसे साक्षात्कार करके उनके भावों से परिचित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये, यह कहना संगत है कि अतिकल्पना भी एकदम निराधार नहीं होती।

इस साहित्य-रूप की सम्भावनाएं

अतिकल्पना की सम्भावनाओं पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि इसकी सम्भावनाएं अनन्त हैं। आज जब कि जीवन की जटिलता बढ़ती ही जा रही है, ऐसे लचीले साहित्य-माध्यमों की अतीव आवश्यकता है। देश के

जो विभिन्न ऐतिहासिक स्थल हैं, सांस्कृतिक प्रतिष्ठान हैं, इतिहास, सभ्यता और संस्कृति के भग्नावशेष है उन्हें इस माध्यम से सफलतापूर्वक वाणी दी जा सकती है। यही क्यों, आधुनिक मानव अपने परिवेश और मन की समस्त जटिलताओं को व्यक्त करने के लिये इस साहित्य-रूप का सुन्दरता से उपयोग कर सकता है। अभी इस साहित्य-रूप का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है, लेकिन यह कहना असंगत नहीं होगा कि विभिन्न वैज्ञानिक साधनों, रेडियो आदि से सहायता लेकर इस विधा को अधिक-से-अधिक विकसित और उपयोगी बनाया जा सकता है।

अतिकल्पना और स्वाभाविकता

अतिकल्पनाओं में अतिकाल्पनिकता तो होती है, पर लेखक का यह प्रयास होता है कि वह अधिक-से-अधिक स्वाभाविक प्रतीत हो। जिस प्रकार कला अनुकरण है, लेकिन वह तभी श्रेष्ठ समझी जाती है जब अनुकरण होकर भी अधिक-से-अधिक नैसर्गिक मालूम होती हो, उसी प्रकार अतिकल्पना की काल्पनिकता को अधिक-से-अधिक विश्वसनीय बनाना पड़ता है। कल्पना कीजिये कि किसी रेडियो अतिकल्पना में बादल को एक पात्र मानकर प्रस्तुत किया गया है, लेकिन उसके स्वरों से बादल की सी मन्द्रता, गंभीरता और गड़गड़ाहट का भाव व्यक्त नहीं होता, इस स्थिति में बादल के स्वर अस्वाभाविक होंगे। इसी प्रकार किसी मरणोन्मुख व्यक्ति का यमराज से साक्षात्कार कराये जाने के क्रम में अतिकल्पना के वातावरण को उस साक्षात्कार के अनुरूप बनाना होगा, नहीं तो उसका प्रभाव तो बिखरेगा ही, वह स्वाभाविक भी नहीं मालूम होगा।

अतिकल्पना-लेखक की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कल्पना तो एक से एक विकट और अविश्वसनीय ढंग की करे, लेकिन जब उसे रूपायित करने लगे तो अधिक स्वाभाविक और ग्राह्य बनाये। इस क्रम में इस बात पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है कि उसमें किसी मार्मिक सत्य, विचार या अनुभूति का समावेश किया जाये। ऐसा नहीं होने से अतिकल्पना में स्वाभाविकता नहीं आयेगी। उदाहरण के लिये, ऐसी कल्पना की जा सकती है कि एक दम्पती आर्थिक कठिनाइयों के कारण आत्महत्या कर लेते हैं, जिनकी आत्मा कहीं स्वर्ग-नरक नहीं जाती, वरन् अपने घर के आस-पास ही भटकती रहती है। अब यदि अतिकल्पना-लेखक मृतात्माओं का यह भटकना ही दिखाकर रह जाता है, उसका कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं करता, तो अतिकल्पना में स्वाभाविकता नहीं आयेगी। लेकिन, यदि वह भटकती हुई मृतात्माओं

को जीवन की आलोचना करते हुए दिखाता है, उनसे यह कहलवाता है कि आत्महत्या करने के बाद भी समस्याएं सुलझी नहीं, उन्हें चैन नहीं मिला, तो इससे अतिकल्पना में स्वाभाविकता आ जायेगी। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अतिकल्पना में सोद्देश्यता के कारण ही स्वाभाविकता का समावेश होता है।

इस प्रकार की रचनाओं के पीछे लेखक के तीन मुख्य प्रयोजन हो सकते हैं। (१) मनोरंजन (२) यथार्थ से पलायन तथा (३) सदोष मानव एवं उसके द्वारा निर्मित दोष युक्त संसार के प्रति नया दृष्टिकोण उपस्थित करना।[1]

---

(१) मानविकी पारिभाषिक कोश, साहित्य खण्ड, पृ० १२१.

मोनोलॉग

•

मोनोलॉग अपेक्षाकृत एक नवीन साहित्यरूप है जो नाटक और कहानी के बीच की चीज है। कुछ लोगों ने इसका अर्थ स्वगत-नाट्य लिया है[1] पर अंग्रेजी में एक शब्द मोनोड्रामा भी है। मोनोलॉग को एकालाप या मौनालाप कहना ही उचित है। इस साहित्यरूप में नाटकीयता पर्याप्त है, पर इसे नाटक नहीं कहा जा सकता। इसमें पात्रों का कथोपथन नहीं होता और यह रंगमंच पर अभिनीत भी नहीं किया जा सकता है। आजकल रेडियो से एकालापों का प्रसारण होने लगा है। और चूंकि रेडियो में अभिनय की आवश्यकता नहीं है, इसलिये पढ़ने के ढंग में नाटकीयता का समावेश कर देने से उसे नाटक माना जाने लगा है। पर मोनोलॉग के प्रति यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। रेडियो नाट्य शिल्प के विशेषज्ञों ने मोनोलॉग के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि अपने द्वन्द्व के कारण ही यह नाटक कहा जा सकता है।[2] पर यह विचार एकदम सही नहीं है। जब द्वन्द्व पात्रों के कथोपकथन और अभिनय के माध्यम से व्यक्त होता है तभी वह नाटक कहा जाता है। द्वन्द्व जहाँ नाटक की आत्मा है वहाँ पात्रों का कथोपकथन और अभिनय उसका बाह्यरूप है। मात्र द्वन्द्व होने से ही एकालाप नाटक नहीं हो जाता, क्योंकि द्वन्द्व तो कहानियों और उपन्यासों में भी होते हैं। एकालाप रेडियो पर नाटकीय ढंग से पढ़ने के लिये

---

१. मोनोलॉग एक अंग्रेजी शब्द है जिसका अर्थ है वह नाटक या नाटक का अंश जिसमें केवल एक ही व्यक्ति बोलता है। हिन्दी में मोनोलॉग शब्द का भी व्यवहार हो रहा है। इसे स्वगत नाट्य भी कहते हैं, एक पात्रीय नाटक भी।

सिद्धनाथकुमार, रेडियो नाट्य शिल्प, पृष्ठ २२०

२. मोनोलॉग में भी अन्तर्द्वन्द्व का अंकन किया जाता है। फलतः इसे हम नाटक के अन्तर्गत गिन सकते हैं। जब इसे नाटक कहा जाता है तब तात्पर्य केवल यही होता है कि मोनोलॉग में नाटक का अपेक्षित द्वन्द्व है, वह पढ़ने के लिये नहीं, अभिनय के लिये लिखा जाता है और कोई कुशल अभिनेता उसे नाटकीय ढंग से पढ़कर हमें प्रभावित कर सकता है। —वही

भले ही लिखे जाते हों, पर अभिनय के लिये नहीं लिखे जाते। रेडियो पर कुशल अभिनेताओं द्वारा ये नाटकीय ढंग से पढ़े जाते हैं पर यहाँ अभिनय की गुंजाइश नहीं है। यदि पढ़ने के ढंग को ही अभिनय कहा जाय तो वह अधिक से अधिक वाचिक अभिनय ही होगा। अभिनय की पूर्णता वहाँ नहीं देखी जा सकती। रेडियो पर तो संवाद प्रधान कहानियाँ भी प्रसारण के क्रम में कुछ-कुछ नाटक ही हो जाती हैं।

मोनोलॉग को स्वगत नाट्य के रूप में नाटक का एक प्रकार न मानकर स्वतन्त्र साहित्य-रूप स्वीकार करना ही अधिक समीचीन है। आधुनिक युग में जबकि नाटकों से स्वगत कथन के वहिष्कार की बात उठाई जा रही है, और बहुत अंश में उठा भी दिया गया है, तो स्वगत भाषण को नाटक मानना स्वीकार्य नहीं होगा।

आकार की दृष्टि से मोनोलॉग एक छोटी कहानी जैसा ही संक्षिप्त होता है। आकार को बढ़ाने से जहाँ एकरसता की आशंका होती है, वहाँ एकलाप का घनत्व भी क्षीण होता है और प्रभाव के बिखरने का अंदेशा रहता है। आकार की दृष्टि से मोनोलॉग एकांकी से भी संक्षिप्त होता है।

मोनोलॉग की विशेषता पर विचार करते हुए कहा गया है कि इसमें जिज्ञासा और कौतूहल का भाव होना चाहिये। इसी तत्व द्वय को लेकर एकालाप का सूत्र आगे बढ़ता है, नहीं तो उसके टूटने की आशंका रहती है। इसके साथ ही मोनोलॉग की विशेषता कथानक की मार्मिकता और भावात्मकता में भी निहित है। किसी सामान्य कथा को लेकर मोनोलॉग नहीं लिखा जा सकता। इसके लिये एक तनाव की स्थिति अनिवार्य है। इसी के बल पर मोनोलॉग आगे बढ़ता है।

मोनोलॉग पर विचार करते हुए कुछ आलोचकों द्वारा कहा गया है कि इसकी कथा का विकास क्रमिक होना चाहिये। पर यह बहुत आवश्यक नहीं है। मोनोलॉग में बहुधा प्रत्यग्दर्शन प्रणाली (फ्लश बैक मेथड) का भी प्रयोग किया जाता है और इससे रचना प्रभावशालिनी हो जाती है। एकालाप में पात्र के अतीत और वर्त्तमान का संग्रथन हो जाता है। वर्त्तमान के पट पर अतीत के कितने ही चित्र उठते-उभरते हैं और मिट जाते हैं। रेडियो के माध्यम से एकालाप का यह क्रम श्रोताओं तक सफलता पूर्वक पहुँचाया जा सकता है, पर अभिनय में इसका निर्वाह मुश्किल है।

मोनोलॉग में एक पात्र के मन के विभिन्न भावों का घात-प्रतिघात व्यक्त होता है। भावों के इस घात-प्रतिघात को भावनाओं का कथोपकथन

मान लेना स्वाभाविक नहीं है [3] क्योंकि द्वन्द्व जहां भी होगा वहां भावों का घात प्रतिघात होगा ही चाहे वह नाटक हो या कहानी। भावों का यह घात प्रतिघात मोनोलॉग में पढ़ने के ढंग से स्पष्ट होता है और इसकी भी एक सीमा है। अतः मानना होगा कि मनः स्थितियों की दुर्धर्ष टकराहट ही नाटक नहीं है, नाटक के अपने उपकरण और विधान भी हैं।

एकालाप में संस्मरण के तत्व भी हैं। अतीत और वर्तमान का वैषम्य ही एकालाप के पात्र के मन में द्वन्द्व उत्पन्न करता है। उस क्रम में जीवन के पिछले इतिहास का स्मरण चिन्तन के सहारे सम्भव होता है, जो अभिनय के द्वारा रंगमंच पर प्रकट नहीं किया जा सकता। रेडियो के ध्वनि-प्रभावों से ये व्यक्त किये जा सकते हैं, पर इतर साधनों से इनकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

अभिनय के क्रम में मंच पर एकालापों का उपयोग अधिक से अधिक किसी पात्र की मनः स्थिति को स्पष्ट करने के लिये ही हो सकता है। यह नाटक का एक उपकरण हो सकता है, नाटक नहीं। जिस प्रकार गीतों से नाटकों के किसी विशेष ध्येय की पूर्ति होती है—या तो वातावरण निर्मित होता है या किसी विशेष पात्र की मनः स्थिति स्पष्ट होती है उसी प्रकार एकालाप भी किसी खास कार्य के लिये ही नाटकों में स्थान पा सकते हैं।

आधुनिक जीवन की जटिलता को व्यक्त करने के लिये ही यह नवीन साहित्य-रूप आविष्कृत हुआ ऐसा मानने का कारण है। जटिल और उलझी हुई मनः स्थिति जितनी सफलता से इस साहित्य-रूप में व्यक्त हो सकती है, उतनी सफलता से और किसी साहित्य रूप में नहीं। इसके स्वतन्त्र अस्तित्व को बलात् किसी पुराने साहित्य-रूप में मिला-खपा देना इसकी विशिष्टता को अस्वीकार करना है। आवश्यकता इस बात की है कि इस साहित्य-रूप की अनन्त सम्भावनाओं का सूक्ष्म अनुसंधान किया जाय और इसे स्वतन्त्र साहित्य-रूप की दृष्टि से विकसित किया जाय। जिस प्रकार रेडियो के द्वारा एकालापों को ध्वनित कर अधिक से अधिक श्रोताओं को प्रभावित किया जा सकता है, उसी प्रकार जीवन की जटिल, उग्र और असाधारण अनुभूतियों से इसे इस प्रकार समन्वित किया जा सकता है कि पाठक पढ़ने में वैसा ही

---

३. नाटकों में विभिन्न पात्र परस्पर वार्तालाप करते हैं, मोनोलॉग में एक ही पात्र की विभिन्न भावनाएँ आपस में कथोपकथन करती हैं। मोनोलॉग को नाटक कहा जाना इस दृष्टि से बिल्कुल सार्थक है।

वही, पृ० १२१

आनन्द प्राप्त कर सके जैसे आनन्द का अनुभव वह सुनने में करता है। जिस प्रकार काव्य को विशेष ढंग से उच्चरित कर पढ़ने से आनन्द दूना हो जाता है, उसी प्रकार यदि एकालापों के पढ़ने का भी एक विशेष ढंग हो तो यह साहित्य रूप पाठकों के लिये अतीव आनन्ददायक हो सकता है।

मोनोलॉग और स्वगत भाषण (Soliloquy) को एक मानने की भ्रांति भी प्रचलित हैं। मानविकी पारिभाषिक कोश में कहा गया है—"प्रायः एकालाप अथवा स्वगत भाषण इन दोनों शब्दों को परस्पर विनिमेय समझा जाता है और इनका पर्याय रूप में प्रयोग किया जाता है परन्तु साहित्यिक प्रयोग में दोनों में एक स्पष्ट भेद है। एकालाप व्यापक शब्द है, स्वगत भाषण इसका एक प्रभेद है। एकालाप अपने प्रसार तथा सापेक्षिक पूर्णता के कारण न तो संवाद है और न ही किसी के प्रति उद्दिष्ट होने के कारण स्वगत भाषण। स्वगत भाषण अकेला या अकेला होने का अभिनय करने वाला पात्र करता है। वह अपने आप से बातचीत करता है और यह नहीं चाहता कि दूसरों पर उसका कोई असर पड़े। इस प्रकार दोनों में स्पष्ट अन्तर है जिसको ध्यान में रखना जरूरी है।"[१]

---

१. पृ० १७१

रिपोर्ताज

•

रिपोर्ताज शब्द के सम्बन्ध में यह सामान्य धारणा है कि यह अंग्रेजी शब्द रिपोर्ट से बना है, जो सही नहीं है। रिपोर्ताज फ्रांसीसी, भाषा का शब्द है जो अन्य फ्रांसीसी शब्दों की भाँति ही, न केवल अंग्रेजी में, वरन् यूरोप की दूसरी भाषाओं में भी प्रचलित है। यह अंग्रेजी शब्द रिपोर्ट से मिलता-जुलता है।[1]

रिपोर्ताज अत्याधुनिक साहित्य रूप है जो मुख्यतः महायुद्ध-कालीन परिस्थितियों का खाद-पानी पाकर फूला-फला है। इसके उद्भव और विकास का श्रेय प्रायः सोवियत संघ को है जहां की परिस्थितियाँ इसके पल्लवन के लिये अधिक अनुकूल रही हैं। शिवदान सिंह चौहान का यह कहना प्रायः ठीक है कि रिपोर्ताज क्रांतिकारी साहित्य के माध्यम के रूप में ही स्वीकृत और विकसित हो सकता है। इसी रूप में यह प्रभावशाली होता है। प्रतिक्रियावादी भावनाओं को अभिव्यक्ति के लिए इस शैली का उपयोग प्रायः नहीं हुआ, और न उस रूप में इसकी सम्भावनाएँ ही स्पष्ट हैं।[2]

रिपोर्ताज-लेखक सामान्य लेखकों से कई बातों को लेकर भिन्न है। डा० रामविलास शर्मा का यह कहना सोलहों आने ठीक है कि रिपोर्ताज-

---

१. प्रगति और परम्परा में डॉ० रामविलास शर्मा का लेख।

पृ० १६०

२. साहित्यानुशीलन पृ० ५७ श्री चौहान अपनी बात को एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। वे लिखते हैं—हड़ताल को ही लें। उसमें पूंजीपति की दिलचस्पी क्या है, उसका स्वार्थ कहाँ है? हड़ताल तोड़ने के लिए Black legs की भरती करने में, पुलिस से दमन कराने में, मजदूरों में फूट डालने में। और इन जन विरोधी कार्यों का समर्थन करने वाला रिपोर्ताज किस प्रकार पाठकों की सहानुभूति अपनी ओर खींच सकता है? पूंजीपतियों की हिंसा, क्रूरता और शोषण से जनता कैसे रागात्मक सहानुभूति पैदा कर सकती है? इसीलिए पूंजीवाद या उसके समर्थक कलाकार रिपोर्ताज की कला का विकास नहीं कर पाते।

लेखक शत-प्रतिशत कलाकार नहीं होता, वह आधा पत्रकार होता है और आधा कलाकार। जिस तरह पत्रकार का लेखन कल्पना पर आधारित न होकर वस्तुस्थिति के प्रत्यक्ष निरीक्षण पर निर्भर करता है, उसी प्रकार रिपोर्ताज-लेखक का काम कल्पना से नहीं चलता। इसके लिये आवश्यक है कि वह जो कुछ लिखे उसका उसे प्रत्यक्ष अनुभव हो। यथार्थ और सत्य का उत्कट आग्रह रिपोर्ताज की पहली अनिवार्य आवश्यकता है जिसके लिये जरूरी है कि रिपोर्ताज-लेखक जिन स्थितियों का वर्णन या चित्रण करे उससे उसका साक्षात् परिचय हो। लेकिन, तथ्यों का संकलन मात्र ही रिपोर्ताज नहीं है, वह रिपोर्ट भले ही हो। रिपोर्ताज की दूसरी आवश्यकता उसकी साहित्यिकता अथवा कलात्मकता है। रचना में इसका समावेश तब होता है जब उसमें सजीवता और लेखक का हार्दिक योग रहता है। रिपोर्ताज-लेखक का कार्य रेखा-चित्रकार से मिलता-जुलता है। जिस प्रकार रेखा-चित्रकार हल्की-फुल्की रेखाओं को नियोजित कर एक सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है और पाठकों के मन पर एक अन्वित प्रभाव डालता है, उसी प्रकार रिपोर्ताज लेखक भी छोटी-छोटी घटनाओं और विवरणों का सहारा लेकर एक सम्पूर्ण चित्र उभारने की चेष्टा करता है। इसी से वह अपने पाठकों को प्रभावित करता है और अपनी रचना को कलात्मक और सजीव बनाता है। घटनाओं के सफल नियोजन और प्रधावित सम्पुंजन में ही रिपोर्ताज की कला निहित है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, रिपोर्ताज अत्याधुनिक युग की देन है, इसलिये आवश्यक है कि अत्याधुनिक जीवन की समस्त जटिलताओं और जीवन-संघर्ष से रिपोर्ताज-लेखक का स्पष्ट परिचय हो। रिपोर्ताज-लेखक का दृष्टिकोण प्रायः वस्तुगत होता है, अतः कल्पित या आरोपित जटिलता का उसके लिये कोई महत्व नहीं है। वह तो सामाजिक सन्दर्भों का विश्लेषक, संकेतक और चित्रकार है। वर्त्तमान जीवन के सभी पहलुओं—सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक का उसे स्पष्ट ज्ञान होना ही चाहिये। संघर्परत जन-जीवन से रिपोर्ताज-लेखक का सीधा सम्बन्ध होता है और उसके लिये अन्य संघर्षों की अपेक्षा क्रान्तिकारी संघर्ष का अधिक महत्व है। उसी के चित्र उतारने में उसकी कला सजीव और सशक्त होती है। रिपोर्ताज अपने क्रान्तिकारी शिल्प के अनुरूप ही क्रान्तिकारी कथ्य की मांग करता है। उसके लिये गतिशील जीवन का ही महत्व है। जीवन की गतिशीलता में जो वास्तविकता निहित है उसी का सच्चा और प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करना रिपोर्ताज-लेखक का प्रमुख कार्य है। प्रामाणिकता उसकी रचना का एक आवश्यक गुण है, जिसके बल पर वह पाठकों को प्रभावित कर अपनी प्रेषणीयता पुष्ट करता है। क्रान्तिकारी

जनता को स्वभावत: ही इस साहित्यरूप से अधिक तुष्टि होती है, क्योंकि यह उन तक वर्त्तमान जीवन की संघर्षमयी वास्तविकता का अनुभव अधिक कौशल के साथ प्रेषित करता है।

रिपोर्ताज-लेखक की एक दूसरी विशेषता उसकी चित्रात्मकता है। शिवदानसिंह चौहान का यह कथन ठीक है कि रिपोर्ताज सवाक् चित्रपट की भांति है। रिपोर्ताज-लेखक की चित्रात्मकता इतनी पूर्ण और असंदिग्ध इसलिये होती है कि लेखक देखे हुए दृश्य को मूर्त्त करता है। एक तो अनुभव ही इतना पूर्ण है कि उसके सम्बन्ध में कोई धुंधलापन नहीं है, दूसरे लेखक उसे अपनी सशक्त कला के माध्यम से और भी पूर्ण और प्रभावशाली बनाने की चेष्टा करता है।

रिपोर्ताज की चित्रात्मकता प्राय: परिवेश की चित्रात्मकता भी होती है। रिपोर्ताज लेखक वस्तु पर जितना ध्यान देता है, उतना ही ध्यान उसके परिवेश पर भी देता है। उसका यह परिवेश-ग्रहण रागात्मक और आन्तरिक भाव से होता है। परिवेश का फोटोग्राफिक चित्रण करते हुए भी वह उस पर अपनी सम्वेदना की कूंची फेर देता है।

आलोचकों ने रिपोर्ताज की जिन तीन मुख्य विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, उसमें घटना का इतिहास और परिवेश तो रहता ही है, लेकिन इसके साथ साथ उस घटना में भाग लेनेवाली शक्तियों के भीतरी इरादों, उनके कार्यक्रमों, उनकी गतिविधि, रीतिनीति और उनके संघर्ष के परिणाम पर निर्भर भविष्य की आशाओं का स्पष्टीकरण भी होता है।[१]

रिपोर्ताज और कहानी

रिपोर्ताज कहानी नहीं है और न कहानी रिपोर्ताज; फिर भी रिपोर्ताज का कहानी से थोड़ा-सा सम्बन्ध है। रिपोर्ताज कहानी की सीमा को छूता है। कहानी में प्राय: एक ही घटना होती है, विवरणों की अधिक गुंजाइश नहीं रहती, लेकिन रिपोर्ताज में कई घटनायें हो सकती हैं और विवरणों का बाहुल्य तो रहता ही है।

कहानी पूर्णत: काल्पनिक हो सकती है और उसकी विविध शैलियां तो होती ही हैं, लेकिन रिपोर्ताज, जैसा कि पहले कहा गया है, काल्पनिक न होकर यथार्थ का वर्णन होता है। इसकी शैली में भी कहानी—जैसा वैविध्य नहीं होता।

---

१. वही, पृ० ५५

कहानी के कई तत्व हैं—कथानक, कथोपकथन, शैली चरित्र-चित्रण, वातावरण और उद्देश्य आदि। कहानी में इनके सम्यक् संघटन का ध्यान रक्खा जाता है। लेकिन रिपोर्ताज में ये सभी तत्त्व आवश्यक नहीं समझे जाते। वह आवश्यकतानुसार इसमें से एक या एक से अधिक तत्वों का उपयोग कर लेता है, लेकिन उसकी सफलता उसी तत्त्व विशेष पर निर्भर नहीं है। रिपोर्ताज में प्रायः छोटी-मोटी कहानी का आश्रय लिया जाता है। पर, कहानी में कथा के गठन और संक्षिप्तता पर जितना जोर दिया जाता है, रिपोर्ताज में उतना नहीं।

कुछ लोग रिपोर्ताज, रेखाचित्र आदि को कहानी की शैली ही मानते हैं। डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने लिखा है "कहानी की शिल्पविधि में प्रयोगशीलता की प्रेरणा कहानियो को कथा और इतिवृत्त के स्पष्ट आकार से बहुत दूर ले गई है और अब कई प्रकार के स्वीकृत कलारूप कहानी के अन्तर्गत आ गये हैं जिनमें रेखाचित्र और सूचनिका (Reportas) मुख्य रूप हैं।" डा० लाल की यह स्थापना स्वीकार करनी कठिन है, क्योंकि रेखाचित्र, रिपोर्ताज और कहानी सबकी अलग-अलग विशेषताएँ हैं। ये एक-दूसरे से कुछ अंश में सम्बन्धित तो हैं, लेकिन इन्हें एक ही कलारूप का भेद-उपभेद मानना इन सब कलारूपों से अपना अपरिचय प्रकट करना है। रिपोर्ताजनुमा कहानी हो सकती है और ऐसी कहानियाँ हिन्दी में लिखी भी गई हैं, लेकिन जहाँ तक इन दो साहित्यरूपों का सम्बन्ध है, दोनों की अपनी-अपनी प्रकृति है।

रिपोर्ताज और निबन्ध

जिस प्रकार रिपोर्ताज कहानी की सीमा को छूता है, उसी प्रकार वह व्यक्तिगत निबन्धों की परिधि का भी स्पर्श करता है। कहानी और निबन्ध दोनों से उसका एक प्रकार का भावात्मक सम्बन्ध है। जिस प्रकार निबन्ध में लेखक के भावों और विचारों की प्रधानता रहती है, उसी प्रकार रिपोर्ताज में उसकी दृष्टि और सम्वेदना प्रकाशित होती है। स्वरूप की दृष्टि से रिपोर्ताज भी निबन्धों की तरह ही थोड़ा 'लूज' होता है, लेकिन निबन्धों का बिखराव जहाँ मानसिक भाव-तरंगों के कारण होता है, वहां रिपोर्ताज के बिखराव के पीछे वस्तुस्थिति का प्रवाह और उसकी अबाधता है। निबंधों में घटना और विवरण प्रायः होता ही नहीं, जबकि रिपोर्ताज में इसकी प्रधानता रहती है। रिपोर्ताज लेखक के सामने एक स्पष्ट उद्देश्य और सतर्कता रहती है, जबकि निबन्धकार प्रायः भोजनोपरान्त के गल्प (After dinner Monologue) की स्थिति

में रहता है । रिपोर्ताज-लेखक के ऊपर एक बड़ा उत्तरदायित्व है, जबकि निबन्धकार पूर्णतः स्वतन्त्र है । निबन्धकार अलस भाव से भटकता है और जो कुछ हाथ लग जाता है वह पाठकों को दे देता है, लेकिन रिपोर्ताज-लेखक कैमरा लेकर सतर्कतापूर्वक तथ्यों की छानबीन करता है, दूरबीन लेकर सम्भावनाओं को खोजता-ढूँढ़ता है और पाठकों को उसकी विश्वस्त सूचना देता है। निबन्ध-लेखक विषयों का चुनाव अपनी रूचि के अनुसार करता है उसी को मनोरंजक और ग्राह्य बनाता है । इसके विपरीत, रिपोर्ताज-लेखक विषय का चयन अपनी रुचि के अनुसार न करके जो प्रत्यक्ष है उसमें रुचि लेता है । निबन्ध-लेखक कोई नगण्य पदार्थ लेकर भी अपना जौहर दिखला सकता है, लेकिन रिपोर्ताज-लेखक के लिये नगण्य घटनाओं या वस्तुओं का कोई महत्त्व ही नहीं है । रिपोर्ताज का कथ्य भी अपने में कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता ।

रिपोर्ताज और रेखाचित्र

रिपोर्ताज और रेखाचित्र में जहां कुछ साम्य है वहां अन्तर भी पर्याप्त है । रिपोर्ताज क्रान्तिकारी लेखकों और सामान्य जनता का कला-माध्यम है, जिसमें लेखक की व्यक्तिवादिता के लिये अधिक गुंजाइश नहीं है । इसके विपरीत शब्दचित्र या रेखाचित्र पूर्णतः व्यक्तिवादी कला है । रेखाचित्र की दूसरी विशेषता चित्रात्मकता अथवा मूर्त्तिमत्ता का आत्यंतिक आग्रह है । रिपोर्ताज-लेखक चित्रात्मकता को साधन-रूप में स्वीकार करता है जबकि रेखाचित्रकार साध्य-रूप में । रेखाचित्र में रेखाओं के उपयोग से चित्र को पूर्ण और प्रभावशाली बनाना ही रेखाचित्रकार का उद्देश्य होता है । वह इतर आवश्यकताओं की ओर ध्यान भी नहीं देता, लेकिन रिपोर्ताज-लेखक को इतर साधनों का भी उपयोग करना पड़ता है और उनका ध्यान भी रखना होता है । रेखाचित्र में संक्षिप्तता और पुनर्गठन आवश्यक है, वहां विस्तार की अपेक्षा नहीं है । वह हर दशा में चित्र है लेकिन रिपोर्ताज चित्र प्रधान न होकर विवरण प्रधान भी हो सकता है ।

रेखाचित्र की दूसरी विशेषता यह है कि वह वास्तविकता के किसी अंग को अलग (Isolate) करके संक्षेपण और अतिरंजन द्वारा उसकी बाह्य और आन्तरिक सुन्दरता-कुरूपता की रेखाओं को उभार देता है, ताकि पाठक उसे सन्निकट से देखी वस्तु की तरह शीघ्र अपने अनुभव और चेतना में ग्रहण कर लें । लेकिन रिपोर्ताज में वास्तविकता के अंगों को अलग-अलग करके नहीं देखा जाता, वहां तो वास्तविकता का गतिशील, आगे बढ़ता हुआ रूप अपनी

समस्त गति और वेग के साथ चित्रित होता है। रिपोर्ताज के कला-विधान में रेखाचित्र की भान्ति सम्पूर्ण और विस्तार के स्थान पर उसके टुकड़े या विशेष अंग को ही ग्राह्य नहीं माना जाता।

रेखाचित्र कला की बारीकी ढूँढ़ता है जबकि रिपोर्ताज में उसकी क्षिप्रता और शक्ति की माँग होती है। रेखाचित्र में चित्रकला की भांति विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रयोग हो सकता है। जिस तरह चित्रकला में अनेक आधुनिक प्रवृत्तियां—जैसे प्रतीकवाद, रूपविधानवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रभाववाद आदि–आ रही हैं, उसी तरह रेखाचित्र में व्यंग्यचित्र, प्रकाश-छाया अध्ययनचित्र, खाके, शबीहें आदि कलाप्रवृत्तियां सामने आ रही हैं। रेखाचित्र में वैयक्तिक विशेषताओं के प्रकाशन के लिये अधिक अवकाश रहता है। वह कल्पनाप्रधान भी हो सकता है। रिपोर्ताज के लिये ये सुविधाएं कठिन हैं।

रिपोर्ताज और उपन्यास

उपन्यास और रिपोर्ताज को एक मानने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि दोनों में पर्याप्त अन्तर है। पर, आजकल रिपोर्ताज-शैली के कुछ उपन्यासों को देखकर अक्सर पाठकों और आलोचकों को उपन्यास और रिपोर्ताज के सम्बन्ध में भ्रम हो जाया करता है। उदाहरण के लिये, कुछ लोग फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों को रिपोर्ताज ही मानते हैं, उपन्यास नहीं। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि रेणु के उपन्यासों को अधिक से-अधिक रिपोर्ताज-शैली में लिखे गये उपन्यास कहा जा सकता है, रिपोर्ताज नहीं। जहां तक शैलियों के वैविध्य का प्रश्न है, रेणु ने अन्य शैलियों के भी सफल प्रयोग किये हैं।

यह ठीक है कि वासिली ग्रोसमन, वान्दा वासीलेव्स्का, सिमोनोव, शोलोखोव आदि रूसी लेखकों को उपन्यास और रिपोर्ताज लिखने में समानरूप से सफलता मिली है, लेकिन इससे उनके उपन्यासों को रिपोर्ताज और रिपोर्ताजों को उपन्यास नहीं माना जा सकता। इनके उपन्यासों में स्थान-स्थान पर रिपोर्ताज के सुन्दर टुकड़े मिलते हैं और ये उपन्यास को रोचक बनाते हैं लेकिन वे रिपोर्ताज नहीं हैं।

रिपोर्ताज कभी-कभी काफी लम्बे होते हैं, लेकिन उसकी भी एक सीमा होती है। उसे फैलने का अवसर उतना नहीं मिलता, जितना कि उपन्यास को। दूसरी बात यह है कि उपन्यास में रिपोर्ताज खप सकता है, पर रिपोर्ताज में उपन्यास नहीं खपेगा। उपन्यास काल्पनिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक कई

प्रकार के हो सकते हैं, जबकि रिपोर्ताज का प्रकार साधारणतः एक ही है, जो यथार्थ की भूमि पर उठा-उभरा होता है। उपन्यास के जो आवश्यक तत्व हैं—जैसे कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन—इनका रिपोर्ताज के लिये वैसा महत्त्व नहीं है। जिस प्रकार उपन्यास-लेखक रिपोर्ताज-शैली का सुन्दर प्रयोग कर उपन्यास को रोचक और सशक्त बना सकता है, उसी प्रकार रिपोर्ताज लिखने में भी कुछ ऐसी शैलियों का प्रयोग किया जा सकता है जो कहानी और उपन्यास की शैलियां हैं। उदाहरण के लिये यह कहा जा सकता है कि पत्र-शैली और डायरी-शैली में उपन्यास भी लिखे जा सकते हैं और रिपोर्ताज भी।

साहित्य के अन्य अंगों की तुलना में रिपोर्ताज-साहित्य कम समृद्ध है। परिमाण की दृष्टि से तो यह अन्य साहित्य-अंगों से बहुत पीछे है। इसका कारण प्रायः यह है कि इसका विकास महायुद्ध के बाद प्रारम्भ हुआ और नवीन त्वरा के साथ सभी देशों में इसका उत्थान सम्भव नहीं हुआ। गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से सोवियत संघ में इस साहित्य रूप का विकास संतोषजनक कहा जा सकता है। ग्रोसमन, सिमोनोव, शोलोखोव आदि का उल्लेख किया जा चुका है, लेकिन आधुनिक रिपोर्ताज-साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण प्रणेता इलिया इहरेनबुर्ग है।

•

लघु-कथा

लघु-कथा छोटी कहानी का अति संक्षिप्त रूप है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से लघु-कथा और छोटी कहानी दोनों एक ही साहित्य-रूप का बोध कराती हैं। अंग्रेजी में कहानी को शार्ट स्टोरी और लघु-कथा को शार्ट-शार्ट स्टोरी कहा जाता है, जिससे दोनों के आकार-भेद का ज्ञान भले ही होता हो, लेकिन तात्विक भेद पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

लघु-कथा और कहानी

कहानी में जीवन के किसी खण्डविशेष को प्रकाशित करने की चेष्टा की जाती है, जिसके लिये संक्षिप्त कथानक का निर्माण करना होता है, जिसमें घटनाएं और चरित्र आदि होते हैं। लेकिन लघु-कथा के लिये यह सब आवश्यक नहीं है। उसका लक्ष्य जीवन के किसी मार्मिक सत्य का प्रकाशन होता है जो बहुधा इस ढंग से अभिव्यक्त होता है जैसे बिजली कौंधती है। लघु-कथाओं में घटनाएं और चरित्र आदि कहानी की तरह सुनियोजित ढंग से हों ही, यह आवश्यक नहीं। वहां तो अत्यल्प साधनों द्वारा ही जीवन के चरम सत्य को उजागर करने की चेष्टा की जाती है।

लघु-कथाओं का प्रारम्भ कब से हुआ यदि इस पर विचार किया जाय तो मानना होगा कि इसकी जड़ आधुनिक कहानियों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। जिस प्रकार कहानियों का एक अत्याधुनिक रूप है, जो उसके प्राचीन रूप से नितान्त भिन्न है, और आधुनिक युग की उपज है, उस प्रकार लघु-कथाओं का कोई अत्याधुनिक रूप नहीं है, जिसके बारे में दावा किया जाय कि यह वर्तमान युग की देन है और प्राचीन साहित्य में उल्लिखित लघु-कथाओं से भिन्न है। इस बात को ध्यान में रखकर यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार छोटी कहानियों ने विकास का एक लम्बा पथ तय कर अपने को प्राचीन आख्यायिकाओं से एकदम भिन्न प्रमाणित किया है वैसा लघु-कथाएं नहीं कर सकीं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि कहानियों में जीवन का यथार्थ जितनी सफलता से व्यक्त हो सकता है उतनी सफलता से लघु-कथाओं में नहीं व्यंजित होता। एक तो इसका आकार छोटा होता है, जिसके कारण वर्णन और विश्लेषण की गुंजाइश कम होती है, दूसरे संकेतात्मकता और वेधकता पर यह कहानी की अपेक्षा अधिक ध्यान देती है।

लघु-कथाओं में वहुत कुछ राह सुझाने का भाव होता है, जवकि छोटी कहानियां पाठकों के सामने जीवन का एक संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत करती हैं। चितेरे और अंगुलि-निर्देशक में जो अन्तर होता है वही अन्तर कहानियों और लघु-कथाओं में है। कहानी चित्रण के माध्यम से जीवन के किसी सत्य को संकेतित करती है, लेकिन इसके लिये वह एक विश्वसनीय वातावरण तैयार करती है, जवकि लघु-कथाएं वातावरण-निर्माण के लिये बहुत सचेष्ट नहीं होतीं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि यदि कहानियां गांव-घर से होकर गुजरनेवाली गली हैं तो लघु-कथाएं निर्जन-सुनसान से होकर गुजरनेवाली पगडंडी है। दोनों का लक्ष्य एक है, लेकिन वातावरण की भिन्नता ही उनके रूप को अलग करती है।

कहानियों का जीवन के यथार्थ से कुछ ऐसा गठबन्धन हो गया है कि उनके विना वे वहुधा विधवा-सी श्रीहीन मालूम होती हैं। वे अधिकतर ऐसी घटनाएं और प्रसंग चुनती हैं जो हमारे लिये चिर-परिचित हैं या जिनका अस्तित्व भौतिक जीवन और जगत के बीच है; निरी काल्पनिकता की गुंजाइश वहां कम है। सूरज, चांद, सितारे, कलियां, निर्झर, पेड़-पौधे, वन-पर्वत आदि को आधार बनाकर कहानियां प्रायः नहीं लिखी जातीं। वे या तो सामाजिक-राजनीतिक होती हैं या मनोवैज्ञानिक-ऐतिहासिक। लेकिन लघु-कथाओं के साथ कहानियों की-सी शर्तें अनिवार्य नहीं हैं। वे सूरज, चांद, सितारों, कलियों, पेड़-पौधों और वन-पर्वतों को लेकर चल सकती हैं।

संक्षिप्तता कहानियों के लिये भी जरूरी है और लघु-कथाओं के लिये भी। लेकिन कहानियों की संक्षिप्तता का एक औचित्य होता है। आत्यंतिक सक्षिप्तता वहां अभीष्ट नहीं है क्योंकि उससे कहानी के आकार को उभरने में कठिनाई होती है। इस सम्बन्ध में वेल्स का "दी कन्ट्री आफ दी ब्लाइन्ड्स" की भूमिका में कहानी के लिये पन्द्रह से लेकर पचास मिनट तक में पढ़े जाने की शर्त रखी गई है लेकिन लघु-कथाओं के लिये इतना समय जरूरत से अधिक है। वह तो दो-तीन मिनटों से लेकर पांच सात मिनटों में आसानी से पढ़ी जा सकती है।

लघु-कथा और बोध-कथा

लघु-कथाओं को हम प्राचीन बोध-कथाओं के बहुत समीप पाते हैं। प्राचीन बोध-कथाओं में जो संकेतात्मक उपदेशात्मकता होती है वह वहुधा आज की लघु-कथाओं में भी है। इस दृष्टि से वे या तो राह सुझानेवाली होती है या आंखे खोलनेवाली। आंखे खोलनेवाली लघु-कथाएं राह सुझानेवाली

लघु-कथाओं से निश्चय ही अच्छी मानी जाती है क्योंकि उनमें अधिक तटस्थता होती है। फिर भी दोनों में मात्रा का ही अन्तर है, प्रकार का नहीं।

लघु-कथाओं में अतिकल्पना

लघु-कथाओं में अतिकल्पना का खुलकर प्रयोग होता है। इस दृष्टि से पंचतत्र का आदर्श उसके लिये अनुकरणीय है। यथार्थ जीवन में पेड़-पौधे, फूल-पत्ते, नदी, निर्झर जैसे भौतिक पदार्थ जड़ और अचेतन समझे जाते हैं। लेकिन लघु-कथाओं में ये सभी सजीव हो जाते हैं और पात्रत्व धारण करते हैं। उनके माध्यम से बहुधा ऐसे सत्य प्रकाशित होते हैं जो मोहन-सोहन या लीला-शीला जैसों के पात्र होने पर कठिनाई से व्यक्त होते।

लघु-कथाओं में दृष्टान्त

लघु-कथाओं के विकास में नैतिक और धार्मिक दृष्टान्तों का बहुत योग रहा है। ऐसे दृष्टान्त ही बहुधा लघु-कथाओं का रूप धारण कर लेते हैं। लेकिन यह बात सभी लघु-कथाओं के बारे में सही नहीं है। जिस प्रकार कहानियों के कई प्रकार निश्चित हो सकते हैं उसी प्रकार लघु-कथाओं के भी कई वर्ग निर्धारित किये जा सकते हैं। सुविधा के लिये हम उनका दो वर्ग कर लेते हैं—(क) दृष्टान्तमूलक लघु-कथाएं और (ख) अनुभव-मूलक लघु-कथाएं। मूलक लघु-कथाओं में किसी दृष्टान्त का आश्रय लेकर अभीष्ट सत्य का मार्मिक दृष्टान्त-कथन किया जाता है। इसके विपरीत अनुभव-मूलक लघु-कथाओं में कोई प्रत्यक्ष दृष्टान्त तो नहीं होता लेकिन अनुभव का आश्रय लेकर कोई सत्य विश्वसनीय ढंग से प्रकाशित होता है।

लघु-कथाओं से कभी-कभी ऐसी कहानियों का बोध ग्रहण किया जाता है जो होती तो हैं कहानियां ही, लेकिन आकार में छोटी होने के कारण आलोचकों द्वारा लघु-कथाएं मान ली जाती हैं। यह सम्भवतः उस भ्रांत धारणा के कारण होता है जिसमें माना गया है कि छोटी कहानी और लघु-कथा में तात्विक अन्तर न होकर सिर्फ आकार-भेद है। प्रेमचन्द की कहानियां आकार में कितनी ही छोटी क्यों न हों, कहानियां ही हैं, लघु-कथायें नहीं। जिस प्रकार कवित्त और सवैये की तुलना में दोहा का अपना आकार और अन्दाज होता है, उसी प्रकार कहानियों की तुलना में लघु-कथाओं का अपना आकार और अन्दाज होता है। लघु-कथाओं की इस विशेषता को न समझ पाने के कारण ही अक्सर लघु-कथा और छोटी कहनी में भेद करना मुश्किल हो जाता है।

लघु-उपन्यास

लघु-उपन्यास, अन्य साहित्य-रूपों की तुलना में, एक नया साहित्य-रूप है जो आधुनिक युग में अस्तितत्व में आया। इसे हिन्दी में उपन्यासिका और अंग्रेजी में नावेलेट की संज्ञा दी जाती है। इसके यथार्थ रूप को समझने के लिये इसे लम्बी छोटी-कहानी और उपन्यास से भिन्न करके देखना जरूरी है।

लम्बी छोटी-कहानी और लघु-उपन्यास

लम्बी छोटी-कहानियों और लघु-उपन्यासों में विभेद करना वहुधा मुश्किल हो जाता है। इसलिये वहुत सी लम्बी छोटी-कहानियों को लघु-उपन्यास और लघु-उपन्यासकों को लम्बी छोटी-कहानियाँ मान लिया जाता है। इस भ्रम का कारण यह है कि हम इन दो साहित्य-रूपों में मात्र आकार-भेद की कल्पना करते हैं, प्रकार-भेद अनिवार्यतः होता है, ऐसा नहीं मानते।

वास्तव में लम्बी छोटी-कहानी और लघु-उपन्यास ठीक उसी तरह अलग-अलग हैं जिस प्रकार छोटी-कहानी और उपन्यास। दोनों में आकार-साम्य हो सकता है लेकिन प्रकार-भेद अनिवार्यतः होगा। लम्बी छोटी-कहानी लम्बी चाहे जितनी हो, लेकिन उसमें कहानीपन की ही प्रधानता रहेगी और लघु-उपन्यास चाहे छोटा जितना भी हो, उसमें औपन्यासिकता का ही वोलवाला होगा। इस प्रकार दोनों के संस्कार अलग-अलग है। कथानक, समस्या और पात्रों को लेकर चलने का इनका अपना-अपना अन्दाज है। इस दृष्टि से जो कहानी और उपन्यास के भेदों को जानते हैं वे लघु-उपन्यास और लम्बी छोटी-कहानी में आसानी से भेद कर सकते हैं।

उपन्यास और लघु-उपन्यास

उपन्यास और लघु-उपन्यास में आकार-भेद को ही मुख्य माना गया है अर्थात् जो उपन्यास आकार में छोटा हो वह लघु-उपन्यास है जो आकार में वड़ा हो वह उपन्यास है। लेकिन मात्र इसी वात पर जोर देकर उपन्यास और लघु-उपन्यास में विभेद करना दोनों साहित्य-रूपों से अज्ञान प्रकट करना है। वहुधा ऐसा भी देखा जाता है कि उपन्यास आकार में छोटा तो है, लेकिन उसे लघु-उपन्यास कहना सम्भव नहीं है। उसकी लघुता उसकी विशेषता न

बनकर उसका दोष है। असफल उपन्यास-लेखक उपन्यास का समारम्भ तो करता है लेकिन उसका निर्वाह नहीं कर पाता और उसे ज्यों-त्यों कर समाप्त कर देता है। फिर अपनी असफलता को ढंकने के लिये उस पर लघु-उपन्यास का बिल्ला लगाता है। स्थिति ठीक इसके विपरीत हो सकती है। अर्थात् उपन्यास आकार की दृष्टि से अच्छा-खासा हो लेकिन फिर भी वह उपन्यास न होकर लघु-उपन्यास ही माना जाय। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास और लघु-उपन्यास में आकार-भेद ही प्रधान नहीं है, वह तो अनुषंगिक है, मुख्य है प्रकार-भेद।

उपन्यास और लघु-उपन्यास के भेदों पर विचार करते हुए हिन्दी-साहित्य कोष में कहा गया है "लघु-उपन्यास या उपन्यासिका में कथानक एकात्म होता है। उसमें उप कथानक (अन्डर प्लाट) नहीं होता तथा प्रासंगिक कथानक (एपिसोड) भी इतने कम और एकान्ततः कथानक के अंग रूप होते हैं कि वे कथानक की एकात्मकता और संहिति में व्यवधान न पैदा कर सकें। चरित्र-चित्रण किसी एक पात्र अथवा किसी चरित्र-वैशिष्ट्य में केन्द्रीभूत होता है। देशकाल अथवा वातावरण के विशद और सूक्ष्म चित्रणों के लिये उसमें स्थान नहीं होता, वह कथानक के ही अनुरूप अधिक व्यंजनापूर्ण और सूक्ष्म होता है। उसकी शैली में आत्माभिव्यंजन का गुण कहीं अधिक रहता है, उपन्यासकार कथा के किसी न किसी पात्र के साथ अधिक महत्त्वपूर्ण सहानुभूति के साथ एकाकार दिखाई देता है। उसकी संवेदना अधिक तीव्र और भावात्मक होती है। उपन्यास की गति अन्तिम परिणित या उद्देश्यसिद्धि की ओर अधिक सीधी और द्रुत होती है। निश्चय ही लघु-उपन्यास जीवन का खण्डचित्र उपस्थित करता है और इस खण्ड चित्र का फलक अपेक्षाकृत छोटा होता है, उसमें विवरणों की संकुलता भी अधिक नहीं हो सकती। इन्हीं विशेषताओं के परिणाम स्वरूप इस प्रकार के उपन्यास का आकार छोटा होता है। अतः लघु-उपन्यास का लघु होना उसके अपने विशिष्ट शिल्प-विधान का अनिवार्य परिणाम है।"

उपर्युक्त उद्धरण से उपन्यास और लघु-उपन्यास के प्रकार-भेद पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। लेकिन फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि उपन्यास लघु-उपन्यासों में आसानी से परिणत किये जा सकते हैं। यदि लेखक चाहें तो अपने लघु-उपन्यास को आसानी से उपन्यास बना सकता है और उपन्यासों को लघु-उपन्यास। लेकिन इसके लिये मात्र कुछ अंशों की कांट-छांट या पुनर्लेखन हीं आवश्यक नहीं है, आवश्यक है दृष्टिकोण में परिवर्त्तन जो उपन्यास को लघु-उपन्यास और लघु-उपन्यासों को उपन्यास

बना सके। बहुधा आजकल किसी उपन्यास के प्रकाशित लघु-रूप को लघु-उपन्यास कहा जाने लगा है, जो गलत है। जिस प्रकार कोई कवि किसी समस्या को पहले एक काव्य-खण्ड के रूप में ग्रहण कर सकता है और पीछे उसी पर प्रबन्ध-काव्य की रचना कर सकता है (जैसा कि दिनकर ने किया है। 'कलिंग विजय' कविता में ग्रहण की गई समस्या अधिक प्रौढ़ विवेचन के साथ 'कुरुक्षेत्र' में प्रस्तुत हुई है) उसी प्रकार कोई उपन्यासकार अपने लघु-उपन्यास को उपन्यास का रूप दे सकता है। इस रूप में इन दोनों साहित्य-रूपों की निकटता सूचित होती है।

लघु-उपन्यासों के प्रकार

लघु-उपन्यासों के प्रकार पर विचार करते हुए हिन्दी-साहित्य-कोश में कहा गया है—"अनेक लघु-उपन्यास अपनी वैयक्तिकता के कारण आत्मकथा जैसे बन गये हैं, अनेक में भावना की तरलता इतनी अधिक है कि उनमें गीति के तत्त्व उभर आये हैं, कुछ के कथा प्रसंग स्वयं इतने परिपूर्ण से हो गये हैं कि वे कहानियों के संग्रह से लगते हैं। कुछ लघु-उपन्यास संवादों तथा घटना-प्रसंगों की नाटकीयता के कारण एकांकी का आभास देते हैं।" इस प्रकार लघु-उपन्यासों को मात्र एक दृष्टि से देखकर कई खानों में बांटना उचित नहीं है। यह तो सभी जानते हैं कि कथा कहने की कई शैलियां होती हैं। यदि शैली आत्मकथात्मक या काव्यात्मक है तो लघु-उपन्यास भी आत्मकथात्मक या काव्यात्मक ही हो यह जरूरी नहीं। आत्मकथा का 'मैं' और उपन्यास का 'मैं' एकदम अलग-अलग होता है। इसलिये लघु-उपन्यासों को आत्मकथा, गीति-काव्य, कहानी और एकांकी के समीप मानना और इस प्रकार उसका वर्गीकरण करना अनुचित होगा। मेरी दृष्टि में तो लघु-उपन्यासों का विभाजन भी कुछ उसी रीति से होना चाहिये जिस रीति से विषय के अनुसार उपन्यासों का विभाजन किया जाता है अर्थात् सामाजिक लघु-उपन्यास, मनोवैज्ञानिक लघु-उपन्यास आदि। हां, यदि लघु-उपन्यासों में शैलीगत विभेदों की चर्चा अभीष्ट हो तो उपर्युक्त ढंग से बातें की जा सकती हैं। इस प्रकार लघु-उपन्यासों में विषय और शैली को लेकर कई भेद किये जा सकते हैं।

आधुनिक युग और लघु-उपन्यास

लघु उपन्यासों का सृजन आधुनिक युग में प्रारम्भ हुआ और अब तो ऐसा माना जाने लगा है कि आधुनिक-युग लघु-उपन्यासों का ही है। पाकेट बुक के रूप में उपन्यासों की जो निरन्तर माँग हो रही है उसके आधार पर भी लघु-उपन्यासों के प्रणयन को प्रेरणा मिलती रही है।

वास्तव में युग की जटिलता और मनुष्य के कर्म-संकुल और संघर्ष-रत जीवन को देखते हुए लघु-उपन्यासों के प्रचार और प्रसार के कारण उचित हैं। आज के व्यस्त जीवन में किसी को इतना अवकाश नहीं है कि वह विशालकाय उपन्यासों का पारायण कर सके। फिर ऐसे विशालकाय उपन्यासों में लेखक जिस तटस्थता से अवतरित होता है वह पाठकों की रुचि को तीव्रगति से उकसा पाने में असमर्थ भी होता है। इसकी तुलना में लघु-उपन्यास अपने भावनात्मक वेग, सीधी-सपाट अभिव्यक्ति और गिने-चुने पात्रों और प्रसगों के कारण पाठकों को शीघ्र ही अपने आप में बांध लेते हैं।

चूंकि आज का जीवन कितने ही लघु-खण्डों में विभाजित है इसलिये आज विशाल जीवन-खण्ड के अवलोकन की अपेक्षा मनुष्य में जीवन के छोटे-छोटे खण्डों के प्रति रुचि होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से लघु-उपन्यासों का लेखन और पठन दोनों आधुनिक युग के अनुरूप हैं। आज जबकि जीवन इतना अस्त-व्यस्त हो गया है तो कलाकार भी एक विशेष प्रकार का जीवन जीने के लिये विवश है। उसके लिये जीवन पहाड़ी सरिता की तरह संक्षिप्त पर वेगवान है, अनेक कोणों और मोड़ों से गुजरने वाला। आज वह जीवन की कल्पना सागर के रूप में नहीं कर सकता। यह युग के संदर्भ में उसकी विवशता है।

लघु-उपन्यासों के वस्तु-तत्त्व पर विचार करते हुए कहा गया है कि उसमें लेखक की आत्माभिव्यक्ति अधिक वैयक्तिक होती है, वृहद उपन्यास की भांति वह केवल कल्पना के आधार पर नहीं लिखा जा सकता, उसमें चित्रित जीवन-खण्ड की किसी न किसी रूप में साक्षात् अनुभूति आवश्यक है। तभी लेखक अपनी कृति में भावना की वह तीव्रता ला सकता है जो लघु-उपन्यास के लिये आवश्यक है। इस विचार की परिपुष्टि के लिए हिन्दी-साहित्य-कोश में उदाहरण भी दिये गये हैं—"प्रायः लघु-उपन्यास किसी व्यक्तिगत मार्मिक अनुभूति से प्रेरणा पाकर रचा जाता है जैसा कि गेटे ने लोट ब्रफ के गम्भीर प्रेम की स्मृति से प्रेरित होकर 'सारोज ऑफ वर्थर' नामक लघु-उपन्यास लिखा था। उसने स्वयं स्वीकार किया है—मेरी व्यक्तिगत अनुभूतियों ने इसे जन्म दिया है। इसी प्रकार—बेन्जामिन कान्स्टैन्ट को 'एडाल्फ' नामक लघु-उपन्यास लिखने की प्रेरणा अपने एक घनिष्ठ मित्र से प्राप्त हुई थी।"

उपर्युक्त विश्लेषण से लघु-उपन्यासों के वस्तु-तत्त्व के एक विशेष अंश पर प्रकाश पड़ता है। वास्तव में ऐसे कितने लघु-उपन्यास हैं तो व्यक्तिगत

अनुभूतियों के आधार पर खड़े हैं। अनुभूतियों की निश्छलता और ईमानदारी के कारण ही उन्होंने पाठकों के हृदय में घर कर लिया है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि लघु-उपन्यास का वस्तु-तत्त्व व्यक्तिगत अनुभूतियों तक ही सीमित है। व्यक्तिगत अनुभूतियों से परे हटकर भी लघु-उपन्यास की रचना की गई है। प्रेमचन्द का 'निर्मला' एक ऐसा ही उपन्यास है।

जीवन के बहुमुखी अनुभव को आधार बनाकर लघु-उपन्यास लिखे जा सकते हैं। ऐसे उपन्यासों में जीवन का सूक्ष्म और गहन अनुभव पाठकों को तीव्र स्वरों में अपना सन्देश दे सकता है। अब रही कलाकार के व्यक्तिगत अनुभूति की बात। वह तो किसी भी कृति में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ढंग से व्यक्त हो सकती है और यदि साहित्य में व्यक्तिगत अनुभूति को मर्यादा देने के प्रश्न पर सहमत हुआ जा सकता है, तो यह मानना होगा कि लघु-उपन्यासों में भी उनका तिर्यक प्रतिफलन ही अभीष्ट है। हमें यह तो मानना ही होगा कि लघु-उपन्यास उपन्यास है, आत्मकथा, डायरी या संस्मरण नहीं। इस रूप में उनमें व्यक्तिगत अनुभूति भी मर्यादित ढंग से ही प्रकाशित हो सकती है।

लघु-उपन्यासों की उपादेयता

आधुनिक युग में लघु-उपन्यासों की उपादेयता स्वीकार की जाने लगी है। केवल पाठकों और लेखकों की सुविधा को ध्यान में रखने के कारण ही नहीं वरन् युग की प्रकृति के अनुकूल भी लघु-उपन्यासों को पसन्द किया जाने लगा है। वृहद उपन्यासों का उद्देश्य जहां समस्या के विस्तृत विश्लेपण और यत्किंचित समाधान का होता है, वहां वह आज के जागरूक पाठकों को ग्राह्य नहीं है। अब तो पाठकों का विवेक इतना विकसित हो गया है कि वे समस्या के किसी पहलू का मार्मिक चित्रण, संकेत और प्रत्यक्षीकरण चाहते हैं। उसी के व्याज से वे सम्पूर्ण जीवन और समाज का रूप और प्रकृति समझ ले सकते हैं। और समाधान की बात तो आज के वैज्ञानिक-दृष्टि-प्रधान लोगों को एकदम अनुचित और अस्वाभाविक लगती है। वे कलाकार से किसी समाधान की आशा ही नहीं रखते और न कला को समाधान के लिये उत्सुक देखना चाहते हैं। इस दशा में एक उपन्यास से उनकी जो अपेक्षाएँ रहती है लघु-उपन्यास उसे बखूबी पूरी कर देता है। अतः आज के युग के लिये लघु-उपन्यासों की मांग जायज है।

लघु-उपन्यास अत्याधुनिक साहित्य-रूप है। इस दृष्टि से इसकी, उपन्यासों की तरह, कोई लम्बी और सुदीर्घ परम्परा नहीं है। इसलिये इसके विकास की सम्भावना भी असीम है। वैसे तो परम्परा का अंकुश रहने पर

भी कोई साहित्य-रूप युग की जरूरतों के अनुकूल अपना रूप परिवर्तित कर लेता है और फिर नये ढंग से विकसित होता है। लेकिन यदि उसकी कोई सबल सुपुष्ट परम्परा हुई तो प्रयोग क्रम-क्रम से और धीरे-धीरे होते हैं, जैसा कि उपन्यासों के विकास-क्रम में देखा जा सकता है। इस दृष्टि से लघु-उपन्यासों को त्वरित गति से विकसित होने की सुविधा प्राप्त है। इसलिये आज लघु-उपन्यासों के क्षेत्र में जो नये-नये प्रयोग हो रहे हैं वे जहां अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होते हैं, वहां वे लघु-उपन्यास के लचीलेपन को भी स्पष्ट करते हैं।

शब्द-चित्र

•

शब्द-चित्र अंग्रेजी के स्केच शब्द का पर्याय है जिसे हिन्दी में रेखा-चित्र भी कहते हैं। जो चित्र रेखाओं द्वारा खींचे जांय वे रेखा-चित्र हुए। चित्रकार स्केच खींचते समय रेखाओं का सहारा लेते हैं, रंग उतने आवश्यक नहीं समझे जाते। लेकिन जब साहित्यकार किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना का चित्र खींचने लगता है तो वह शब्दों से काम लेता है। चित्रकार की रेखाओं के स्थल पर शब्द ही उसके काम आते हैं। इसलिये अंग्रेजी शब्द स्केच के लिये, जब वह रेखा-चित्र के लिये प्रयुक्त होता है, तो हिंदी शब्द शब्द-चित्र ही उचित है।

रेखा संक्षिप्तता और अनासक्तता का प्रतीक है। चित्रकार जब किसी दृश्य, व्यक्ति या वस्तु को शीघ्रता और संक्षिप्तता में प्रस्तुत करना चाहता है तो वह रेखाचित्र प्रणाली का सहारा लेता है अर्थात् थोड़ी सी आड़ी-तिरछी रेखाओं के द्वारा ही विषय को मूर्त करता है, चित्रकला के अन्य उपकरणों की सहायता नहीं लेता। इस बात को हिन्दी के प्रमुख आलोचक श्री शिवदान सिंह चौहान ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"रेखाचित्रकार एक ऐसा कलाकार है जो अपने परिपार्श्विक जीवन की वास्तविकता के किसी अंग को पशु, पक्षी, वृक्ष, इमारत, खंडहर, स्त्री, पुरुष, स्थान, गांव, मुहल्ला, नगर आदि किसी भी जड़ अथवा चेतन को एक चित्रकार के समान अंकित करता है, वास्तविकता के उस अंग को कल्पनासात कर उसके मर्म को संक्षेपण और पुनर्संगठन द्वारा अधिक प्रभावपूर्ण, संगठित और समतल से उभार करके अपनी भाव-प्रक्रिया से उसके प्रभावों को अतिरंजित कर देता है।"[१] इस प्रकार रेखाचित्रकार अपने मनोभावों को स्पष्ट करता हुआ वस्तु की एक नयी प्रतीति देता है जो हमारे हृदय में कोई न कोई भाव जागृत करने में समर्थ होती है। एक कुशल शब्द चित्रकार भी बहुधा यही करता है। श्री चौहान लिखते हैं—"रेखाचित्र पढ़कर किसी वस्तु का चित्र ही हमारे सामने नहीं खिच जाता बल्कि अभिव्यक्ति और चित्रण के पीछे अनासक्तिभाव का उपक्रम किये लेखक की छिपी सहानुभूति से भी अप्रत्यक्ष रूप से पाठक प्रभावित होता है,

---

१. साहित्यानुशीलन, पृ० ४८

वास्तविकता के उस टुकड़े को उसके विराट सन्दर्भ से हटाकर जैसे खुर्दबीन से देख कर वह उसे पूरी तौर पर जान लेता है और उसके सम्पूर्ण स्वरूप से उसके आन्तरिक संबंधों को पहचान लेता है।"[1] इससे स्पष्ट है कि रेखाचित्र या शब्दचित्र खींचना सरल कार्य नहीं है। इसके लिये उच्च कोटि के कला-विवेक की आवश्यकता होती है। कम से कम साधनों का प्रयोग करते हुए चित्र के प्रभाव को परिपूर्णता में चित्रित करना शब्द-चित्रकार की पहली आवश्यकता है। इस क्रम में व्यक्ति, दृश्य या घटना का बाहरी रूप प्रधान नहीं रह जाता, उनमें निहित अनुभूति और अनुभाव का चित्रण ही प्रधान होता है।

शब्द-चित्र लिखते समय शब्द-चित्रकार की मनः स्थिति प्रायः वैसी ही होती है जैसी मॉडेल के सामने बैठे चित्रकार की। चित्रकार पहले मॉडल को ध्यान से देखता है। वह उसके द्वारा वस्तु का अध्ययन और निरीक्षण है। इसके बाद चयन की स्थिति आती है। वह जो कुछ देखता है सबका सब अंकित नहीं कर देता वरन् अपने कला-विवेक के आधार पर चुनाव करता है। मॉडेल में जो कुछ जैसा है वैसा ही चित्रित-करने से वह फोटोग्राफर के समीप होगा, शब्द-चित्रकार नहीं कहला सकेगा।

चित्रकार मॉडिल में जो कुछ विशिष्ट है, उसी पर अपनी पकड़ तीव्र करता है। फिर उसे ही अपने ढंग से उभार कर, अपनी अनुभूति से संवलित कर, प्रदर्शित करता है। इसलिये जहां फोटोग्राफी में आन्तरिकता बहुत-कुछ आवृत रह जाती है वहां स्केच में वह अनावृत हो जाती है। इस प्रकार मॉडल देख लेने के बाद, और यह निश्चय कर लेने के बाद कि उसके किस कोण को स्केच में उभारना है, चित्रकार तूली पकड़ता है। लेकिन इस प्रकार एक विशिष्ट प्रतीति से पूर्ण होकर भी वह स्वतंत्र नहीं होता। स्केच खींचते हुए उसे बीच-बीच में मॉडल भी देखना पड़ता है अर्थात चित्रकार को रेखा-चित्र खीचते समय न तो पूर्णतः मॉडल पर निर्भर रहना पड़ता है और न पूर्णतः अपने कला-विवेक पर। उसे व्यवहारिकता के धरातल पर दोनों का सम्यक् संयोजन करना पड़ता है। शब्द-चित्र लिखते समय लेखक को भी ऐसी ही कठिनाइयों से होकर गुजरना होता है। उदाहरण के लिये महादेवी वर्मा के 'घीसा' को लीजिये। महादेवी का घीसा ठीक वही नहीं है जो वास्तविक जगत का घीसा नाम-धारी व्यक्ति है। महादेवी ने अपने द्वारा रचित घीसा में बहुत कुछ अपना भी मिलाया-जुलाया है। लेकिन इसके साथ ही यह भी

---

१. वही, पृ० ४६

सही है कि वह प्रायः वही घीसा है जो वास्तविक जगत में इस नाम से उपस्थित था। इस प्रकार वास्तविकता को किंचित् उन्नत और स्फीत करके दिखलाना शब्द-चित्रकार का दायित्व है।

शब्द-चित्रकार में परिपार्श्व बोध होता है, लेकिन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में। जब चित्रकार कोई तैल-चित्र या और कोई चित्र खींचता है तो केवल चित्र खींच कर ही संतुष्ट नहीं होता वरन् चित्र का एक उचित परिपार्श्व भी चित्रित करता है। इसे वह हलके या गाढ़े रंगों से मूर्त करता है और तूलिका से यथावश्यक सहायता लेता है। लेकिन स्केच में परिपार्श्व को इस रूप में अंकित करने की चेष्टा लक्षित नहीं होती। वहां तो मूल चित्र ही जल्दीबाजी में, तटस्थता पूर्वक, कुछ रेखाओं के सहारे खींचा गया-सा लगता है। तो फिर परिपार्श्व-चित्रण पर कौन ध्यान दे? जहां चित्रकार के स्केचों के लिये यह सही है वहां साहित्य के शब्द-चित्र के लिये हर समय उचित नहीं समझा गया है। इसीलिये श्री शिवदान सिंह चौहन ने कहा है—"किसी व्यक्ति के रेखा-चित्र में यह विशेषता होगी कि उसके व्यक्तित्व ने (जिन परिस्थितियों ने उसके व्यक्तित्व को गढ़ा, उनका भी चित्र की पृष्ठिभूमि बनाने के लिये निर्देश हो सकता है) जो विशेष मुद्राएं, चेष्टाएँ, शारीरिक अवयवों की बनावट में जो विकृतियां ऊपर को उभार दी हैं उनके आभास को चित्र में ज्यों-का-त्यों पकड़ा जाय।" इस उद्धरण में यह बात एक तरह से मान ली गई है कि यदि शब्द-चित्र में चित्रित विषय के साथ-साथ उसका परिपार्श्व भी मुखर किया जा सके तो यह कोई गलत बात नहीं होगी। वास्तव में इसी बात को लेकर चित्रकार के स्केच और साहित्यकार के शब्द-चित्र में अंतर हो जाता है। एक की रचना एक कलाकृति होकर रह जाती है जब कि दूसरे की रचना समाज का एक संक्षिप्त और प्रभाव-पूर्ण चित्र बन जाती है। महादेवी वर्मा, बनारसी दास चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी के शब्द-चित्र इस बात को स्पष्ट करते हैं। उनमें चित्रित व्यक्ति के साथ-साथ समाज भी सांकेतिक रूप से बोलता नजर आता है।

शब्द-चित्र और संस्मरण

शब्द-चित्र में संस्मरण के तत्व होते हैं, लेकिन यह उससे भिन्न भी है। लेकिन मुश्किल यह है कि भेद इतना सूक्ष्म है कि लोगों की दृष्टि अक्सर धोखा खा जाती है। इसलिये यह आवश्यक है कि शब्द-चित्र लिखते समय सावधानी से काम लिया जाय। इसके लेखन में जीवन वृत्त या संस्मरण से सहायता ली जा सकती है लेकिन उन्हें साधन रूप में ही अपनाना होगा। कहा भी गया है—"किसी छोटे से संस्मरण का अथवा जीवन-वृत्त की किसी

विशेष घटना का रेखा-चित्र में उतना ही उपयोग हो सकता है। जितना उसकी रेखाओं को स्पष्ट करने अथवा चमकाने में सहायक हो।"[१]

शब्द-चित्र में संस्मरण के तत्वों के आने का कारण यह है कि शब्द-चित्रकार जिस व्यक्ति का शब्द-चित्र खींचता है उससे उसका दीर्घ सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध-काल की कितनी ही बातें, प्रसंग और घटनाएं शब्द-चित्रकार को प्रभावित करती हैं। इसलिये उसकी रचना में इन सबका स्पष्ट या तिर्यक् प्रभाव पड़ना स्वाभाविक हो जाता है।

कुछ शब्द-चित्र ऐसे भी होते हैं जो व्यक्ति, घटना या प्रसंग के परोक्ष में लिखे जाते हैं। ऐसे शब्द-चित्रों में संस्मरण के तत्व अनिवार्य रूप से होते हैं। यहां शब्द-चित्रकार स्मृति से सहायता लेकर वर्ण्य-विषय का चित्र खींचता है। ऐसे चित्रों में सम्बन्धित व्यक्ति का वही रूप और रंग प्रमुखता से चित्रित होता है जो शब्द-चित्रकार की स्मृति में निहित रहता है। ऐसे शब्द चित्रों को संस्मरणनुमा शब्द-चित्र भी कह सकते हैं।

शब्द-चित्र और जीवनी

शब्द-चित्र और जीवनी में कुछ न कुछ सम्बन्ध है। जीवनी में भी व्यक्ति का चित्र खींचा जाता है और शब्द-चित्र में भी, लेकिन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि एक में चित्र पूर्ण होता है और दूसरे में संक्षिप्त। जीवन के विस्तृत क्षेत्र में भाग-दौड़ करते हुए व्यक्ति के एक अंश का साक्षात्कार और उसका चित्रण शब्द-चित्र है लेकिन जीवनी में उसका सम्पूर्ण संघर्परत जीवन ही चित्रित होता है।

शब्द-चित्रकार का कार्य जीवनी-लेखक से कम कठिन नहीं है। एक को जहां व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन चित्रित करना है, और उसका विशिष्ट रूप उभारना है, वहां दूसरे को व्यक्ति के जटिल और उलझनपूर्ण जीवन से उसके व्यक्तित्व के किसी विशेष अंग को इस कौशल से अलग करना होता है कि वह निर्जीव भी नहीं मालूम पड़े और अधूरा भी नहीं लगे। ऐसा वह शब्द-चित्र को पूर्ण और प्रभावशाली बना कर ही कर सकता है। इस दृष्टि से श्री शिवदानसिंह चौहान का यह कहना एकदम ठीक है कि हर दशा में रेखा-चित्र एक चित्र है अतः साहित्य में उसका उपयोग अनुभूति को तीव्र और प्रखर बनाना है।

शब्द-चित्र के विषय

शब्द-चित्र के विषय क्या-क्या हो सकते हैं यह भी एक उपयुक्त प्रश्न है। साधारणतः यह समझा जाता है कि शब्द-चित्र मनुष्यों के ही होते हैं।

---

१. साहित्य विवेचन : क्षेमचन्द्र सुमन और योगेन्द्र कुमार मल्लिक, पृ० २९३

इसका कारण यह बतलाया जाता है कि हम मनुष्य होने के नाते मनुष्य को जितना जानते हैं उतना अन्य प्राणियों को नहीं। लेकिन यह एक भ्रान्त धारणा है। मनुष्यों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक ऐसे प्राणी हैं जिनसे हमारा घनिष्ट साहचर्य है और वे भी हमारे लिये उतने ही परिचित हैं जितना कि मनुष्य। इसलिये वे भी शब्द-चित्र के लिये उतने ही उपयुक्त विषय हैं जितना कि मनुष्य। कहा भी गया है—"रेखाचित्र ऐसे चेतन प्राणियों पर भी लिखे जा सकते हैं जो न तो मनुष्य की भांति विवेकशील होते हैं और न बोल ही सकते हैं पर अपने जीवन के सुख-दुख तथा आरोह-अवरोह का वे अपने संकेतों द्वारा अभिव्यक्त कर सकते हैं। इस श्रेणी में पशु आते हैं।"[1]

मनुष्यों और पशुओं के अलावा पेड़, पर्वत, जंगल, घाटियां, निर्झर आदि प्राकृतिक वस्तुओं के शब्द-चित्र भी खींचे जा सकते हैं। बहुधा महाकाव्यों, उपन्यासों और कथा-कहानियों में इनके शब्द-चित्र मिलते भी हैं। इसके चित्र जहां इनके भौतिक रूप को स्पष्ट करते हैं वहां ये मानव-हृदय में कौन सा भाव संचार करते हैं यह भी स्पष्ट होता है।

शब्द-चित्र पद्य में भी

वैसे तो शब्द-चित्र एक ऐसा साहित्य-रूप है जो गद्य के सहारे ही फूला-फला लेकिन पद्य में भी इसकी रचना हो सकती है। यदि पद्यकार का ढंग बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि शब्द-चित्रकार का तो रचना पद्य में होकर भी शब्द-चित्र ही होगी। उदाहरण के लिये श्री सुमित्रानन्दन पंत रचित एक बूढ़े का शब्द-चित्र लिया जा सकता है।

> खड़ा द्वार पर लाठी टेके वह जीवन का बूढ़ा पंजर
> चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी हिलते हड्डी के ढांचे पर
> उभरी नीली नसें जाल-सी सूखी ठठरी से हैं लिपटी
> पतझर में ठूठे तरु से ज्यों सूनी अमरबेल हो चिपटी
> उसका लम्बा डील-डौल है हट्टी-कट्टी काठी चौड़ी
> इस खण्डहर में बिजली सी उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी
> बैठी छाती की हड्डी अब झुकी रीढ़ कमठा सी टेढ़ी
> पिचका पेट, गढ़े कंधों पर फटी बिवाई से है एड़ी
> घुटनों से मुड़ उसकी लम्बी टांगे जांघें सटी परस्पर
> झुका बीच में शीश झुर्रियों का झांझर मुंह निकला बाहर

---

१. साहित्य विवेचन : क्षेमचन्द्र सुमन और योगेन्द्र कुमार मल्लिक, पृ० २९३

हाथ जोड़ चौड़े पंजों की गुंथी अंगुलियों को कर सम्मुख
मौन त्रस्त चितवन से कातरवाणी से वह कहता निज दुःख

इन पंक्तियों में बूढ़े का जो चित्र खींचा गया है वह निरा वर्णन नहीं है, उसका सही चित्र है। इससे कवि के मन के भाव भी स्पष्ट होते हैं।

शब्द-चित्र में कल्पना और वास्तविकता

शब्द-चित्र में वास्तविकता और कल्पना दोनों का समिश्रण हो सकता है लेकिन कल्पना यथार्थ को आधार मान कर खड़ी होगी। वहां कल्पना का वैसा प्रयोग अभीष्ट नहीं है जैसा कि कथा-कहानियों में होता है। इस दृष्टि से यह कथन कि "रेखा-चित्र एक चित्र है इस कारण उसका वर्ण्य-विषय कल्पना प्रधान भी हो सकता है और वास्तविक भी" कुछ विशेष सन्दर्भों में ही स्वीकृत हो सकता है। जब हम मनुष्येतर प्राणियों का शब्द-चित्र खीचेंगे तो उसमें कल्पना के लिये अधिक अवकाश होगा लेकिन जहां तक मनुष्य का सवाल है वहां हमें यथार्थ को आधार बना कर ही टिकना होगा। किसी व्यक्ति का शब्द-चित्र अंकित करते समय कल्पना का रंग गाढ़ा करने से काम नहीं चलेगा, वहां तो वास्तविकता को ही प्रधानता देनी होगी।

सहयोगी उपन्यास : स्वरूप और शिल्प

जब कोई उपन्यास एक से अधिक लेखकों के सहयोग से लिखा जाए, तो उसे सहयोगी उपन्यास की संज्ञा दी जाती है। उपन्यास-क्षेत्र में नये-नये प्रयोगों के फलस्वरूप ऐसे उपन्यास सबसे पहले अमरीका में लिखे जाने शुरू हुए।[1] अमरीका में ऐसे प्रयास सहज ही स्वीकृत नहीं हुए। इस सम्बन्ध में राजेन्द्र यादव ने लिखा है—"जैसे मशीनों के हिस्से अलग-अलग जगहों से लाकर आप मोटर, रेल इत्यादि बना डालते हैं, अमरीका में लेखक की स्थिति भी आज यही हो गयी है।" यहाँ श्री यादव के कथन में एक व्यंग्य का भाव निहित है। आगे चल कर वे लिखते हैं—"रोमन किम ने इस पर एक सनसनीखेज सटायर भी लिखा था। एक काउण्टर पर जाकर आपने जासूसी, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक—जैसा मन हुआ, प्लाट खरीदा, दूसरी दूकान में जाकर मनोवैज्ञानिक या स्थिति चित्रण वाले पैरेग्राफ भरवाये, तीसरी दूकान में वार्त्तालाप फिट कर दिये गये, चौथी दूकान में विरामादि चिह्नों से उसे सजाया गया, पाँचवी में उस सबको अन्तिम पालिश दे दी गयी और अब तैयार माल (फिनिश्ड प्रोडक्ट) साहित्यिक एजेण्ट के द्वारा प्रकाशक के पास आया, अगले दिन दस मिलियन प्रतियाँ बिक्री की मुहर वाला 'बेस्ट सेलर' हो गया।' वास्तव में किसी भी नवीन साहित्य विधा के लेखन के श्रीगणेश होने पर ऐसे व्यंग्य करने वाले सभी जगह मिलते हैं। लेकिन इनके व्यंग्य-बाणों के कारण नवीन साहित्य विधाओं का प्रणयन कहीं नहीं रुकता। यही बात सहयोगी उपन्यासों के सम्बन्ध में भी है।

भारतीय साहित्य में सहयोगी उपन्यास-लेखन की धारणा का आयात अमरीका से हुआ, बाद में बंगला और हिन्दी में ऐसे कई प्रयोग हुए। हिन्दी में अज्ञेय के सम्पादकत्व में निकलने वाले 'प्रतीक' में 'बारह खम्भा' नाम से एक सहयोगी उपन्यास के लिखे जाने का श्रीगणेश हुआ।[2] बहुत दिन बाद 'ज्ञानोदय' ने एक ऐसे उपन्यास के लेखन का आयोजन किया, जिसका नाम

---

१. कल्पना, जनवरी १९६५

२. यह पूरा नहीं हो सका।

रखा गया 'ग्यारह सपनों का देश'।[1] इसे कई लेखकों को मिल कर पूरा करना था। डॉ० धर्मवीर भारती ने इसकी मूल योजना का उल्लेख इस प्रकार किया है—"जो पहला अध्याय लिखेगा वह अन्तिम भी लिखेगा, जो दूसरा लिखेगा वह दसवां भी लिखेगा, जो तीसरा लिखेगा वह नवां भी लिखेगा, जो चौथा लिखेगा, वही आठवां लिखेगा, जो पांचवां लिखेगा वही सातवां लिखेगा। केन्द्रीय अध्याय अथवा छठा अध्याय शायद मूल योजना के अनुसार जैनेन्द्र को लिखना था और वह एक प्रकार से कथानक का नाटकीय मोड़ होता। इस योजना के अनुसार एक के अलावा सभी लेखकों को दो अध्याय लिखने पड़ते—एक पूर्वार्द्ध में दूसरा उत्तरार्द्ध में। इससे अपने आप एकसूत्रता ज्यादा बनी रहती और कथा भी अधिक अनुशासित रहती।[2] लेकिन आगे चल कर इस योजना में परिवर्त्तन करना पड़ा; अर्थात् एक लेखक डॉ० धर्मवीर भारती ने प्रारम्भ और अन्त के अध्याय लिखे और बाकी अध्याय अलग-अलग लेखकों द्वारा लिखे गये। इस प्रकार उपन्यास पूरा हुआ और पूरा होने पर उसकी सफलता और असफलता को लेकर विचार-विमर्श हुए और इस क्रम में सहयोगी उपन्यासों की उपादेयता, उनकी प्रवृत्ति आदि के सम्बन्ध में कई लेखकों के विचार-वक्तव्य प्रकाशित हुए। इस प्रकार हिन्दी में सहयोगी उपन्यास सम्बन्धी धारणा का विचार-विमर्श यहीं से प्रारम्भ हुआ।

सहयोगी उपन्यासों की विशेषताएँ—सहयोगी उपन्यास की विशेषताओं पर विचार करते हुए 'ज्ञानोदय' सम्पादक लक्ष्मीचन्द्र जैन ने लिखा है—"वास्तव में स्वतन्त्र वैयक्तिक ढंग से लिखे गये और सहयोगी आधार पर लिखे गये उपन्यास में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि जहाँ एकाकी लेखक समूची कथा-वस्तु और सारे पात्रों के क्रिया-कलापों में ऐसी संगतियों का सायास निर्वाह करता है, जो कथा के उद्देश्य, कथ्य के प्रभाव और रचना के धरातल के अनुकूल रहें, वहाँ सहयोगी उपन्यास के लेखक अपने से पहले की भूमिका के प्रति तो सचेष्ट रहते हैं, कथा के भविष्य के प्रति उनकी कोई जिम्मेदारी नहीं रहती। चूंकि कथा का वर्तमान उनके हाथ में है और जो कुछ उन्हें कहना है, उसके लिए मात्र वही अवसर उनके पास है, इसलिए वे पात्र के नैसर्गिक और सहज विकास को प्रमुखता न देकर समग्रता के प्रति उदासीन होकर, केवल अपने विचारों को, अपने कथ्य को और समस्याओं के तारतम्य के प्रति अपने

---

१. ग्यारह सपनों का देश, वक्तव्य खण्ड।

२. ज्ञानोदय ने बाद में 'एक इंच मुस्कान' नामक सहयोगी उपन्यास प्रस्तुत किया, जिसे कथाकार दम्पति मन्नू भण्डारी और राजेन्द्र यादव ने लिखा।

दृष्टिकोण को उपस्थित कर देते हैं।"[१] इस प्रकार स्पष्ट है कि सहयोगी उपन्यास-लेखन में प्रत्येक लेखक कथानक, विचारों और समस्याओं की अभिनव कड़ी जोड़ता है। आगे से चली आती कथा-शृंखला और विचार-शृंखला में एक और कड़ी जोड़ कर उसे आगे बढ़ाता है—यह बात हर लेखक के मन में रहती है। लेकिन यहाँ उसे यह भी विचारना पड़ता है कि कड़ी जोड़ने के क्रम में दूसरे के विचारों को भी देखना है और उसी क्रम में कौशल के साथ, स्वाभाविकता और तारतम्य की रक्षा करते हुए, अपने विचार दर्शाना है। इस प्रकार सहयोगी उपन्यासों का सृजन लेखक से अद्भुत सतर्कता, समझ और अनुशीलन की माँगें करता है। पहले के लेखकों के दृष्टिकोण को समझना और फिर उसी क्रम में अपनी बात जोड़ना, उसे स्वाभाविकता के साथ कहना, यह सहयोगी उपन्यास लेखक के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार सहयोगी उपन्यास में अराजकता के लिए स्थान नहीं है। पूर्ववर्ती लेखकों ने जो कहा, कहा, मैं अपनी बात कहूँगा और परवर्ती लेखक भी अपनी कहेंगे, इस दृष्टिकोण को लेकर सफल सहयोगी उपन्यास नहीं लिखे जा सकते।

ऐसे प्रयोगों की सार्थकता—उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में ऐसे प्रयोगों की क्या सार्थकता है, इस पर विचार-विमर्श हुआ है। डॉ० धर्मवीर भारती ने लिखा है—"इस प्रकार के सम्मिलित उपन्यास का मूल उद्देश्य यही होता है कि समकालीन कई पीढ़ी, कई विचारधारा, कई शैली के लेखकों को एक सहयोगी कथा-सृजन में सम्मिलित कर समकालीन लेखन का एक ऐसा 'क्रास संकलन' प्रस्तुत कर सकें, *जिसमें शैली, एप्रोच, परिप्रेक्ष्य का वैविध्य भी* पाठकों को ज्ञात हो सके और उसकी पारस्परिक पूरकता का तथा समकालीन वास्तविकता के प्रति उनकी समान जागरूकता का भी आभास मिल सके।"[२] ऐसी ही कुछ अद्भुत आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर सहयोगी उपन्यासों का सृजन होता है। लेकिन केवल ये ही बातें सहयोगी उपन्यास-लेखन के मूल में हैं, यह कहना सहयोगी उपन्यासों के उद्देश्य को सीमित करना है। वास्तव में सहयोगी उपन्यास-लेखन से जहाँ उपर्युक्त कई बातें स्पष्ट होती हैं, वहाँ यह विभिन्न लेखकों को लेखनगत एक नये अनुशासन में बाँधने का अभिनव प्रयास है। ऐसे प्रयासों से विभिन्न वय, शैली और विचाराधारा के लेखक समीप तो आते ही हैं, बहुधा उनको एक दूसरे की रचना-प्रक्रिया की विशेषताएँ और कठिनाइयाँ भी समझ में आती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने

---

१. ग्यारह सपनों का देश, वक्तव्य खण्ड।

२. वही।

निबंध 'कविता क्या है' में लिखा है—"मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलता और कहीं लड़ता हुआ अन्त तक चला जाता है, और इसी को जीना कहते हैं।" सहयोगी उपन्यासों के लेखन में बहुत कुछ यही प्रक्रिया अपनाई जाती है। लेकिन जिस प्रकार अपने भावों, विचारों और व्यापारों को लिए दिये दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलते और कहीं लड़ते हुए जीना सबके लिए सम्भव नहीं है, उसी प्रकार सहयोगी उपन्यास सभी नहीं लिख सकते। जिस प्रकार अपनी मौलिकता की रक्षा करते हुए भी दूसरे के विचारों को समझना और उसका आदर करना सभ्य, सुशिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए ही सम्भव है, उसी प्रकार सहयोगी उपन्यास ऐसे ही लेखक समुदायों द्वारा लिखा जा सकता है, जो अपेक्षाकृत प्रौढ़ हों। जिस समाज में हर लेखक की अपनी ढपली और अपना राग हो, और वह उसी में मस्त रहता हो, वहाँ सहयोगी उपन्यासों का सृजन सम्भव नहीं है। जब ऐसे लेखक, ऐसा कोई उपन्यास लिख भी लेते हैं, तो इसकी असफलता का श्रेय दूसरों के सिर मढ़ते हैं और अपने लिखे को ही सबसे अच्छा बताते हैं। 'ग्यारह सपनों का देश' के समाप्त होने पर कुछ सहयोगी लेखकों ने ऐसा ही आरोप-प्रत्यारोप एक दूसरे पर लगाया था।

सहयोगी उपन्यास-लेखन : आवश्यक शर्त—सहयोगी उपन्यास-लेखन एक कठिन काम है, यह तो मानना ही होगा। इसमें सभी लेखकों को कठिन श्रम करना पड़ता है, लेकिन उपलब्धियाँ किसी एक की होकर नहीं रहतीं, वे सब में बँट जाती हैं। इस दशा में ऐसे लेखक जो बहुत मेहनत और अनासक्त भाव से लिखने के अभ्यासी नहीं हैं, ऐसे पचड़ों में पड़ना अपने लिए सुविधा-जनक नहीं पाते। मानी हुई बात है कि ऐसे लेखक सहयोगी उपन्यास-लेखन को निष्ठापूर्वक नहीं लेंगे। 'ग्यारह सपनों का देश' के लेखन में यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित हुई थी। डॉ० प्रभाकर माचवे ने अपने वक्तव्य में लिखा था—"इस प्रयोग से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि खेती चाहे सहकारी या सांघिक ढंग से साझे की हो जाए, आँगन की बागबानी (किचेन गार्डनिंग) के ढंग पर साहित्य रचना या सृष्टि असम्भव है।"[1] एक दूसरे सहयोगी लेखक राजेन्द्र यादव ने भी लिखा था, "लेखन भी एक सहयोगी प्रयास हो, यह बात मेरी समझ में नहीं आती, चाहे वह एक रूपरेखा पर हो, या बिना रूपरेखा के। सहयोग से डैम बँध सकते हैं, कम्पनियाँ चल सकती हैं, कोश बन सकते हैं, लेकिन जहाँ एक दृष्टि, एक संवेदना, धरातल और एक ही कोण सबसे महत्वपूर्ण हो, वहाँ

---

१. ग्यारह सपनों का देश, वक्तव्य खण्ड।

सहयोग बाधा ही देता है।"[1] इन वक्तव्यों से स्पष्ट है कि ऐसे लेखक सहयोगी उपन्यास लिखा जाना उचित ही नहीं मानते। अब यदि ऐसे ही लेखकों से सहयोगी उपन्यास लिखवाये जाएँगे, तो मानी हुई बात है कि वे सहयोगी उपन्यास-लेखन को बहुत 'सीरियसली' नहीं लेंगे। जिस कार्य में विश्वास नहीं हो, उसमें सम्मिलित होना सिद्धान्ततः अनुचित है। लेकिन जब किसी बाध्यता के कारण ऐसे ही लेखकों पर सहयोगी उपन्यास लिखने का भार दिया जाता है, तो यह अस्वाभाविक नहीं कि ये कृति को असफल घोषित करेंगे और उसका दोष अपने किसी सहयोगी के मत्थे थोपेंगे। ऐसे ही लोगों को ध्यान में रख कर डॉ० धर्मवीर भारती ने कहा है—"क्या हर विवेकशील धैर्यवान व्यक्ति का रास्ता यह नहीं है कि किसी भी योजना में शामिल होते समय खूब अच्छी तरह उस योजना को और अपने को भी जाँच-परख ले और उसमें कोई सार्थक प्रयोजन उसे दीखे, तभी उसमें शामिल हो; अथवा-यथा उसे कोई विवश तो नहीं कर सकता। वास्तव में ऐसी योजना में जब तक लेखक योजना के प्रयोजन और उसकी उपयोगिता या दूसरी ओर उसकी मर्यादाओं और सीमाओं को अच्छी तरह समझ कर शामिल नहीं होता, तब तक उसके योग का वास्तविक लाभ कथाकृति को नहीं मिल पाता और कभी-कभी उसकी प्रतिभा ऐसी भी दिशाओं में उन्मुख होने लगती है, जो दिशाएँ एक प्रकार से सम्मिलित सहयोगी लेखन के लक्ष्य और मर्यादाओं से मेल नहीं खातीं।"[2] सहयोगी उपन्यास-लेखन के सम्बन्ध में यह बहुत मार्के की बात है जो डॉ० भारती ने कही है। बिना यह दृष्टिकोण अपनाये सहयोगी उपन्यास-लेखन में प्रवृत्त होना व्यर्थ का समय और श्रम नष्ट करना और पाठकों की कठिनाइयाँ बढ़ाना है।

सहयोगी उपन्यास—मूलतः उपन्यास—सहयोगी उपन्यास सहयोग से भले ही लिखा जाए, लेकिन है वह मूलतः उपन्यास ही। सहयोगी उपन्यास के लेखकों को यह बात ध्यान में रखना ज़रूरी है। इस प्रकार सामान्य उपन्यासों से पाठकों की जो अपेक्षाएँ हैं; सहयोगी उपन्यास से उसकी पूर्ति तो होनी ही चाहिए; लेकिन पाठक की कुछ अधिक की उम्मीद भी स्वाभाविक है। अर्थात् सहयोगी उपन्यासों में पाठक वैविध्य भी चाहता है और ऐक्य भी। वैविध्य विभिन्न लेखकों की निजता से उद्भूत, और ऐक्य उनकी अलग-अलग विशेषताओं के सम्यक् समाहार के कारण। इस प्रकार सहयोगी उपन्यासों का प्रभाव

---

१. ग्यारह सपनों का देश, वक्तव्य खण्ड।

२. वही।

सफल आरकेस्ट्रा के प्रभावों-सा होना चाहिए, जिसमें विभिन्न वाद्य-यंत्र तो होते हैं, लेकिन वे सब सामूहिक परिणति में लीन हो जाते हैं। इसी बात को ध्यान में रख कर डॉ० रांगेय राघव ने 'ग्यारह सपनों का देश' के समापन वक्तव्य में लिखा है—"मैंने जब इस योजना को स्वीकार किया, तब इसी विचार से कि हम सब सहयात्री हैं और हम सब गायेंगे। हम उपवन में बैठे कई कोकिल हैं, वसंत का हर पहलू हमारे रागों में खुलेगा।"[1] इस रूप में सहयोगी उपन्यास के लेखकों को अपनी नैतिकता की रक्षा करते हुए सहयोगी लेखन में इस प्रकार नियोजित होना पड़ता है कि वे एक दूसरे के पूरक सिद्ध हों। ऐसे लेखन में यदि विरोधी शिविरों के लेखक भी शामिल हों, तो बावजूद अपनी अलग विचारधारा, शैली और एप्रोच के, उनका अन्तराल उतना अधिक न प्रतीत होना चाहिए, जितना कि स्वतन्त्र लेखन में सम्भव है।

इस रूप में सहयोगी उपन्यास को 'समझौते के लेखन का परिणाम' मानना समीचीन नहीं है। समझौता और सहयोग में जो अन्तर है, हमें उसे ध्यान में रखना है। समझौता जीते हुए और हारे हुए के बीच होता है, जब कि सहयोग के लिए किसी पक्ष की जीत-हार आवश्यक नहीं है। सहयोग वहीं होता है, जहाँ दोनों पक्ष बराबर हों और इसकी दरकार इसलिए पड़ती है कि जो काम अलग-अलग सम्भव नहीं हो पाता है, उसे कई लोग मिल कर पूरा कर सकते हैं। इस दृष्टि से विचारणीय है कि वह कौन-सा काम है, जो अकेले के लिए कठिन और समूह के लिए सरल है। यहाँ हम डॉ० धर्मवीर भारती की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करेंगे—"साहित्य के इतिहास का कोई भी कुशल अध्येता यह जानता है कि किसी भी एक काल का कथा-साहित्य अपनी प्रवृत्तियों, धाराओं, स्कूलों, शैलियों और वादों की विविधता के बावजूद समकालीन यथार्थ के प्रति एक ऐसी जागरूकता का परिचय देता है, जो इन सभी में समान रूप से उपलब्ध होती है।[2] सहयोगी उपन्यास के लेखकों को विविधता में निहित यही एकता दर्शानी है। यह किसी एकाकी लेखक के किये सम्भव नहीं है।

सहयोगी उपन्यासों में सामान्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक कौशल की जरूरत होती है। सामान्य उपन्यासों में तो लेखक को कथा कहते हुए यथावसर अपनी बात कहने का पूरा अवकाश रहता है। लेकिन सहयोगी उपन्यास में यह सुविधा नहीं रहती। वहाँ तो एक बार ही अपना कमाल

---

१. ग्यारह सपनों का देश, वक्तव्य खण्ड।

२. वही।

दिखलाने का मौका मिल सकता है। अब उसमें कथा का निर्वाह किया जाए, चरित्रों के स्वाभाविक विकास को अक्षुण्ण रखा जाए, नये चरित्र लाये जाएँ या अपना दृष्टिकोण प्रकट किया जाए। ये प्रश्न सभी सहयोगी उपन्यास लेखकों के सामने रहते हैं। और उनकी सफलता बहुधा इस बात पर निर्भर करती है कि उन्होंने प्रश्नों को प्रमुखता देने का क्रम क्या रखा है? जहाँ तक अपनी विचार-धारा या दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का सवाल है, वह गौण है। सहयोगी उपन्यास मूलतः एक उपन्यास है, लेखकों के दृष्टिकोणों और वक्तव्यों का संकलन नहीं। इसलिए अपने विचारों और बोधों पर अंकुश रखते हुए उसे एक उपन्यास के रूप में आगे बढ़ाना समीचीन है। लेकिन जिस प्रकार कुशल संगीतकार सामूहिक संगीत में भाग लेते हुए भी अपनी विशेषताओं को अनछिपा नहीं रहने देता, उसी प्रकार कुशल लेखक सहयोगी उपन्यास लिखते हुए भी अपनी खासियत प्रकट करेगा ही। लेकिन यह प्रसंगवश ही होना चाहिए। जब लेखक यह सोच कर कि अपने विचारों को प्रकट करने का फिर मौका नहीं मिलेगा, कथा को भूल कर सबसे पहले अपने विचार ही प्रकट करने लगे, तो उपन्यास असफल हो जाएगा। इस दृष्टि से "अपने पात्रों के व्यक्तित्व और चरित्र को अपने आप उभरने देना और उसके सामने खुद अपने को पारदर्शी बना लेना, कहीं भी अपने पात्रों के नैसर्गिक व्यक्तित्व के विकास में अपनी निजी धारणाओं, पूर्वाग्रहों, इच्छाओं, कल्पनाओं, कुंठाओं, सिद्धान्तों या मतवादों को कतई आगे न आने देना, उनके लिए अपने निजी व्यक्तित्व को बिल्कुल पीछे फेंक देना" डा० धर्मवीर भारती के अनुसार "कथा सृजन की प्रक्रिया में सबसे जटिल, सबसे दुःसाध्य" दृष्टिकोण अपनाना समीचीन है। ऐसा नहीं होने से उपन्यास एक उपन्यास के रूप में सफल नहीं होगा, विभिन्न लेखकों के विचारों की लुगदी मात्र बन कर रह जाएगा।

•

संस्मरण

•

हिन्दी-साहित्य-कोश में संस्मरण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"स्मृति के आधार पर किसी विषय या व्यक्ति के सम्बन्ध में लिखित लेख या ग्रंथ को संस्मरण कह सकते हैं।" इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए लेखक कहते हैं—"संस्मरण लेखक यदि अपने सम्बन्ध में लिखे, तो उसकी रचना आत्मकथा के निकट होगी, यदि अन्य व्यक्तियों के विषय में लिखे तो जीवनी के निकट।[1] इन दो प्रकार के संस्मरणों को अंग्रेज़ी में क्रमशः रेमिनिसैंसेज और मेमॉयर्स कहते हैं।" लेकिन यदि संस्मरण की विशेषताओं पर और अधिक सावधानी और गहराई से विचार किया जाये तो स्पष्ट होगा कि यह केवल आत्मकथा और जीवनी के ही निकट नहीं है, अपितु डायरी और रेखा-चित्र के निकट भी है।

डायरी और संस्मरण

डायरी और संस्मरण में बहुत दूर तक समानता है। डायरी जीवन की बीती घटनाओं का लेखा-जोखा या मन में आये हुए भावों और विचारों की तस्वीर है। इस दृष्टि से इसमें संस्मरण के तत्व हैं। पर डायरी और संस्मरण में जो महत्वपूर्ण अंतर है, वह यह कि डायरी से हमारा निकट का सम्बन्ध होता है, जबकि संस्मरण में हम दूर की घटनाओं को उठाते हैं। डायरी में

---

१. इस क्रम में नीचे लिखी पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं :
जार्ज ब्राण्डीज ने अपनी पुस्तक creative spirits of the nineteenth century में लिखा है—"दूसरे आदमियों के चरित्रों का चित्रण करते हुए दरअसल हम अपनी ही प्रकृति की झलक प्रस्तुत कर देते हैं या यों कहिये अपनी ही ज़िन्दगी के टुकड़े प्रदर्शित कर देते हैं। जिस समय हम दूसरे आदमियों की तस्वीरें खींचते हैं, उस वक्त दरअसल हम अपने कार्य अपनी रुचि, अपनी श्रद्धा, अपनी मित्रता और अपने यौवन का ही चित्र खींच देते हैं।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की पुस्तक 'संस्मरण' से उद्धृत।

हम तुरत की वीती हुई बातों का हवाला देते हैं जो बहुधा वर्तमान की झलक-सी मालूम होती हैं जब कि संस्मरण में जो बातें कही जाती हैं, वे कब की बीती रहती हैं। उनके बारे में लिखते समय ऐसा लगता है कि स्मृति का सहारा लेकर उन्हें लिखा जा रहा है। डायरी की वास्तविकता सामने की वास्तविकता होती है, जबकि संस्मरण की वास्तविकता को पीछे मुड़कर देखना पड़ता है। डायरी में हम उस वर्त्तमान की बात भी कर सकते हैं जो अभी बीता नहीं है, जबकि संस्मरण में ऐसा करने की सुविधा नहीं होती। उसमें अनिवार्य रूप से बीते प्रसंगों को उठाना पड़ता है।

रेखाचित्र और संस्मरण

रेखा-चित्र और संस्मरण में बहुत दूर तक समानता है। जब हम सस्मरण अपने बारे में न लिखकर दूसरों के बारे में लिखते हैं और वह भी संक्षिप्त रूप में तो वे बहुधा रेखाचित्र के समीप होते हैं।

जीवन में हमारा बहुत लोगों से परिचय होता है। एकाधिक कारणों से वे हमारे जीवन के अभिन्न अंग-से हो जाते हैं। लेकिन ऐसे प्रिय व्यक्तियों से भी कालान्तर में हमें विछुड़ना पड़ता है। लेकिन जब उनकी याद आती है तो आँखों के सामने उनकी मूर्ति नाचने लगती है। तब मन क्षण भर के लिए विकल हो उठता है, उनके बारे में सोचने और लिखने के लिए। अब यदि हम थोड़े में ही व्यक्ति विशेष को स्मरण करना चाहते हैं तो अपने मन में अंकित उसकी मूर्ति को कागज़ पर उतार देते हैं। ऐसे संस्मरण रेखा-चित्र के निकट होते हैं। कभी-कभी ऐसे संस्मरणों में संस्मरण और रेखाचित्र का भेद स्पष्ट करना कठिन हो जाता है।[१] उदाहरण के लिए महादेवी वर्मा लिखित 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएं' को ले सकते हैं। इनको पढ़ने के बाद सहज ही यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि ये संस्मरण हैं या रेखा-चित्र। पर इस प्रश्न का क्या उत्तर होगा, हम इसमें न उलझ कर रेखा-चित्र और संस्मरण के सूक्ष्म भेदों पर विचार करेंगे।

रेखा-चित्र लिखते समय लेखक बहुधा चित्रकार बन जाता है। जिस प्रकार चित्रकार कूँची और रंगों के सहारे मन में आये हुए भावों और प्रतीतियों को मूर्त्त कर देता है, उसी प्रकार रेखा-चित्र लिखते समय लेखक

---

१. श्री बनारसी दास चतुर्वेदी के अनुसार संस्मरण, रेखाचित्र और आत्मचरित्, इन तीनों का एक दूसरे से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक की सीमा दूसरे से कहाँ मिलती और कहाँ अलग हो जाती है, इसका निर्णय करना कठिन है।

शब्दों को ही कूँची और रंग की तरह काम में लाता है और उनके सहारे मन में आये हुए भावों और विचारों को मूर्त्त कर देता है। इस क्रम में ठीक चित्रकार की भाँति वह भी तटस्थ रहता है। चित्र में चित्रित वस्तुएँ ही दिखाई देती हैं, स्वयं चित्रकार नहीं दिखाई पड़ता। ठीक उसी प्रकार रेखा-चित्रों की रचना में लेखक मुश्किल से दिखाई देता है। जिस प्रकार सफल चित्र वही है जिसमें, चित्रकार, ढूँढने पर मुश्किल से मिले, ठीक उसी प्रकार रेखाचित्र भी तभी सफल समझे जाते हैं जब कि उसमें निहित लेखक ढूँढने पर मिले। लेकिन संस्मरणों में लेखक के लिए ऐसी बातें कतई आवश्यक नहीं हैं बल्कि वहाँ तो ठीक इससे उल्टा होता है। संस्मरणों में संस्मरणकार स्पष्ट रूपेण व्यक्त होता है। वहाँ खुद को अभिव्यक्त करते हुए दूसरों के चित्र खींचे जाते हैं।

संस्मरण और इतिहास

संस्मरण में लेखक द्वारा देखे गये, अनुभव किये गये या भोगे हुए प्रसंगों का वर्णन होता है। ये प्रसंग बहुधा एक निश्चित कालावधि के बाद स्मृति के सहारे लिपिबद्ध किये जाते हैं। इसलिए इन प्रसंगों में स्मृति अन-जाने और अनचाहे कुछ जोड़-घटाव कर सकती है।[1] लेकिन सचेतन रूप से संस्मरणकार अपने संस्मरणों को प्रामाणिक बनाने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से संस्मरण कुछ-कुछ इतिहास के समीप हैं।

चूँकि संस्मरण में बीती हुई घटनाओं और प्रसंगों का वर्णन रहता है इसलिए इसे इतिहास के समीप माना गया है लेकिन इसमें और इतिहास में एक बड़ा अन्तर भी है। इतिहास में लेखक नितान्त निरपेक्ष होता है। वह वस्तु-परक दृष्टिकोण लेकर चलता है और घटनाओं और प्रसंगों को अनासक्त भाव से लिपिबद्ध करता है। वहाँ उसका ध्यान तथ्यों पर रहता है और वह उन्हें अनदेखा नहीं कर सकता। लेकिन संस्मरण—लेखक निरपेक्ष नहीं

---

१. स्टिफन ज्विग ने अपनी पुस्तक Adepts in self portriraiture में लिखा है—"जिस तरह किसी नदी की तह में पत्थर एक दूसरे पर लुढ़कते रहते हैं, उसी प्रकार स्मरण शक्ति की धारा में घटनाएँ एक दूसरे का अतिक्रमण करती रहती हैं। उस जमघट में वे ऊपर-नीचे आती-जाती रहती हैं। प्रारम्भिक भावनाओं पर बाद की भावनाएँ छा जाती हैं और नये संस्मरण पुराने संस्मरणों में कुछ परिवर्तन ला देते हैं।

(श्री बनारसी दास चतुर्वेदी की पुस्तक से उद्धृत।)

रहता। घटनाओं और प्रसंगों से उसका अनिवार्य व्यक्तिगत सम्बन्ध होता है। लेखन-क्रम में उन सम्बन्धों का उल्लेख किया जाना आवश्यक हो जाता है। संस्मरण में घटनाएँ और प्रसंग इस रीति से वर्णित किये जाते हैं कि वे लेखक के बीते जीवन के अभिन्न अंग-से मालूम होते हैं। व्यक्ति के बीते जीवन के परिपार्श्व में ही उनका चित्रण होता है। इस प्रकार संस्मरण में वर्णित घटना एक विशेष रंग में रंगी होती है। फिर इतिहास में प्रसंगों और घटनाओं का ब्योरेवार चयन किया जाता है। वहाँ आदि, मध्य और अंत का उल्लेख होता है और कार्य-कारणों का आपसी सम्बन्ध दिखाना होता है। संस्मरणों में यह सबसे आवश्यक नहीं है। वहाँ घटना का संकेत देकर या सिर्फ उसके उतने से अंशों को लेकर ही, जिससे संस्मरणकार का सम्बन्ध है, प्रयोजन सिद्ध किया जा सकता है।

संस्मरण और आपबीती

आपबीती भी संस्मरण ही है लेकिन उसमें जीवन की कोई विशेष घटना वर्णित होती है। जीवन में एक से एक घटनाएँ घटती हैं लेकिन सबको आपबीती का दर्जा नहीं दिया जा सकता। आपबीती तो वही घटना कहला सकती है जो हमारे मन पर अपनी एक निश्चित छाप छोड़ जाती है। ऐसी आपबीतियाँ संस्मरण के लिए सबसे उपयुक्त विषय हैं।

संस्मरण में जीवन के चुने हुए प्रसंग लाये जाते हैं। लेकिन आपबीती में उससे भी अधिक चुनाव की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए कोई राजनीतिज्ञ अपने जीवन के दस वर्षों के संस्मरण लिख सकता है। इसमें वह दस वर्षों के बीच घटित चुने हुए प्रसंगों का वर्णन करेगा। लेकिन यदि उसे आपबीती लिखने के लिए कहा जाय तो वह मुश्किल से एक या दो प्रसंग ही आपबीती के रूप में पाठकों के सामने रख सकेगा। इस प्रकार आपबीती में अजूबेपन का भाव होता है। आपबीती में वर्णित घटना अविस्मरणीय, कौतूहलवर्द्धक, अद्भुत, अभूतपूर्व और रोमांचक होती है। इस दृष्टि से यह संस्मरण से विशेषता लिये होती है। साहस, जोखम, भय, उन्माद—ये आपबीतियों के विशिष्ट तत्व होते हैं।

संस्मरण और निबंध

हिन्दी-साहित्य-कोश में संस्मरण लेखक की विशेषताओं पर विचार करते हुए कहा गया है—"उसके वर्णन में उसकी अपनी अनुभूतियाँ और संवेद-

नाएं भी रहती हैं। इस दृष्टि से शैली में वह निबंधकार के समीप है।" यह बात दूर तक सही है। जिस प्रकार व्यक्तिगत निबंधों में आत्माभिव्यंजन का पुट होता है, उसी प्रकार संस्मरणों में भी आत्माभिव्यंजकता के पुट देखे जा सकते हैं।

निबंध किसी न किसी विषय या वस्तु को आधार बनाकर लिखे जाते हैं और निबंधकार विषय या वस्तु की विशेषता का प्रतिपादन बहुधा बड़े ही रोचक ढंग से करता है। इसके लिए वह प्रथमतः आत्मीयतापूर्ण वातावरण का निर्माण करता है और उसमें विषय की रोचकता को कायम रखते हुए आगे बढ़ता है। संस्मरणकार भी बहुधा इसी भाँति जिस घटना या प्रसंग का वर्णन करता है, उसके लिए आत्मीयतापूर्ण वातावरण का निर्माण करता है और उस वातावरण में घटना या प्रसंग का वर्णन करता है। इसलिए निबंधों और संस्मरणों की शैली सहज स्वाभाविक और रोचक होती है। लेकिन इतनी समानता होते हुए भी निबंधों और संस्मरणों में एक सूक्ष्म भेद है। निबंधों में आत्माभिव्यंजनात्मकता का पुट होता है, लेकिन वह सही मानी में पुट ही होता है अर्थात् वह यदा-कदा ही प्रत्यक्ष होता है। लेखक प्रतिपाद्य विषय को लेकर आगे बढ़ता है और विषय-प्रतिपादन के क्रम में कभी-कभी अपनी झलक दिखा देता है। उसकी यह झलक प्रायः आकस्मिक और क्षणिक होती है। इसी में निबंध का सौन्दर्य है। लेकिन संस्मरण में लेखक विषय के मूल में होता है और हर समय एक भाव से विद्यमान रहता है। घटनाओं और प्रसंगों का वर्णन करते हुए अपनी उपस्थिति की प्रतीति कराते रहना उसकी विशेषता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि यदि निबंधों में निबंधकार का व्यक्तित्व नखलिस्तान की भाँति यदा-कदा दृष्टिगत होता है तो संस्मरणों में वह अन्तःसलिला फल्गु की भाँति सतत् प्रवाहित रहता है।

●

संगीत-रूपक

•

संगीत-रूपक अपेक्षाकृत नया काव्यरूप है जो रेडियो के प्रचार-प्रसार के कारण अस्तित्व में आया। इसका अभिनय मंच पर भी किया जा सकता है, लेकिन इसके लिए बड़ा ही समृद्ध और काव्यात्मक रंगमंच, विविध प्रकार की वेशभूषाएँ, गायनसिद्ध अभिनेता और अभिनेत्रियाँ व अन्य इतर साधनों की आवश्यकता है। इसलिए रंगमंच पर संगीत-रूपक के अभिनय का आयोजन कम ही किया जाता है। रेडियो के द्वारा इस प्रकार की रचनाओं को प्रस्तुत करने की सुविधा रहती है, क्योंकि वहाँ नेत्रों से काम न लेकर कानों से सुनना पड़ता है। इसलिए रेडियो द्वारा स्वरों के आरोह और अवरोह एवं ध्वनि-प्रभावों से संगीत-रूपक को प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार की रचनाओं में गीत और संगीत की प्रधानता रहती है। संगीत-रूपकों में गेय गीतों की योजना बहुधा दो प्रकार से की जाती है। कभी-कभी गीतों की कड़ी जोड़ने के लिए वाचकों (नरेटरों) की आवश्यकता पड़ती है और कभी-कभी यह काम आप ही दो पात्रों के कथोपकथनों से होता चलता है। वाचक भी अपना कार्य दो प्रकार से कर सकता है। या तो वह गीतों के द्वारा ही विभिन्न गीतों की कड़ियाँ जोड़ता है और कथा और भाव के तारतम्य को कायम रखता है या गद्य के द्वारा यह कार्य करता है।

जहाँ वाचकों की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ इस बात का खयाल रखना होता है कि वाचक कथा या भाव के तारतम्य को स्वाभाविक रूप से निभाने के लिए ही है। बहुधा ऐसा भी होता है कि विभिन्न मनःस्थितियों और भाव-भूमियों से सम्बन्धित गीत वाचकों द्वारा जबरदस्ती जोड़ दिये जाते हैं। यह सफल संगीत-रूपक की पहचान नहीं है। इससे संगीत-रूपक के कथा-संगठन या भाव-सगठन की क्षति होती है और प्रभाव बिखर जाता है।

संगीत-रूपक और काव्य-रूपक

संगीत-रूपक को हम काव्य-रूपक भी कह सकते हैं। लेकिन कविता होते हुए भी उसमें संगीत की जो अपेक्षा की जाती है, उसी के कारण उसे साधारणतः संगीत-रूपक ही कहा जाता है। आजकल संगीत-विहीन काव्य

भी लिखे जाते हैं। ऐसे काव्य के संयोग से ऐसा काव्य-रूपक लिखा जा सकता है, लेकिन उसे रेडियो पर सुनाने के लिए या मंच पर अभिनीत करने के लिए गायनजन्य सुविधा 'लय आदि से समन्वित करना आवश्यक हो जाता है। नयी कविता के जो काव्य-रूपक हैं, वे इस बात की पुष्टि करते हैं। ऐसे काव्य-रूपक या काव्य-नाटक संगीत-रूपक से भिन्न माने गये हैं लेकिन मेरी दृष्टि में उनमें कोई वैसा अंतर नहीं है जैसा कि समझा जाता है। जिस रचना में छन्दयुक्त गेय पदों की प्रधानता होती है, उसे हम संगीत-रूपक कहते हैं और जिनमें अतुकान्त और अगेय पदों की प्रधानता होती है, उन्हें काव्य-रूपक या काव्य-नाटक कहते हैं। लेकिन इन दोनों में बाहरी विभेद ही होता है। दोनों के आन्तरिक तत्व प्रायः एक हैं। बाहरी रूप में भी जहाँ दोनों में अंतर है, वहाँ एक बात की समानता भी है। संगीत-रूपक में जिस प्रकार गेयता की प्रधानता रहती है, उसी प्रकार काव्य-रूपक में भी लय, स्वरों के आरोह और अवरोह का सहारा लिया जाता है। यह स्वरों का आरोह और अवरोह या लय आदि संगीत से मूलतः भिन्न हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस अवस्था में इन दोनों काव्य-रूपों को अलग मानने की आवश्यकता नहीं है।

संगीत-रूपक में प्रयुक्त गीत बहुधा छोटे छोटे होते हैं। इससे रूपक में नाटकीयता आती है और एकरसता (मोनोटॉनी) का खतरा नहीं रहता। बहुधा ऐसा भी होता है कि एक पात्र के द्वारा दो चार पंक्तियाँ कहने के बाद ही दूसरे पात्रों के मुख से उनकी अगली कड़ियाँ प्रस्तुत कर दी जाती हैं। इससे संगीत-रूपक में मनोरंजकता और प्रभाव की अभिवृद्धि हो जाती है। उक्तियाँ अलग-अलग पात्रों की भी हो सकती हैं और उनका समवेत रूप से भी उच्चार किया जा सकता है।

जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य के लिए यह नियम अच्छा और आवश्यक माना गया है कि विभिन्न सर्गों में विभिन्न छन्दों का प्रयोग होना चाहिए या कम से कम सर्ग समाप्त होते समय छन्दों का क्रम अवश्य बदल देना चाहिए, उसी प्रकार संगीत-रूपक के लिए भी यह आवश्यक है कि विभिन्न पात्रों के मुख से जो विभिन्न उक्तियाँ कहलाई जायं, वे अलग-अलग छन्दों में हों। इससे कथन में प्रभाव तो आयेगा ही, विभिन्न छन्दों की झंकृति और संगीत श्रोताओं को मुग्ध भी कर सकेंगे। शुरू से अन्त तक एक ही छन्द-प्रकार रहने से संगीत-रूपक प्रभावहीन हो जा सकता है।

संगीत-रूपक में रूपकत्व

अब हमें इस पर विचार करना है कि संगीत-रूपक में रूपकत्व कहाँ तक रहता है [illegible] रूपक का हम जो अर्थ लेते हैं, उसे संगीत-रूपक के

क्रम में भूल जाना होगा। रूपकों में प्राय: यथार्थ घटनाओं, कार्यों और विषयों को स्थान दिया जाता है। इस दृष्टि से संगीत-रूपक में रूपकत्व का बहुत अधिक निर्वाह नहीं होता। वहाँ कविता और संगीत की प्रधानता के कारण इस बात की अपेक्षा की जाती है कि विषय का सूक्ष्म, संकेतमूलक और काव्यात्मक वर्णन किया जाय। गद्य और काव्य के वर्ण्य-विषय में जो स्वाभाविक अन्तर है, वही अन्तर रूपक-और संगीत-रूपक के वर्ण्य-विषय में होता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि संगीत-रूपक के यथार्थ की अपनी सीमा होती है। वहाँ ठेठ और विलष्ट यथार्थ कठिनता से व्यक्त हो पाता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वहाँ वास्तविकता अस्पृश्य है। वास्तव में यथार्थ या वास्तविकता साहित्य का आधार है। उसके बिना साहित्य के किसी रूप का भवन खड़ा ही नहीं होगा। लेकिन अन्तर सिर्फ इतना है कि विभिन्न साहित्य-रूपों के अनुसार वास्तविकता में भी थोड़ा-बहुत-हेरफेर करना होता है। जो गद्य की वास्तविकता है, यदि ठीक उसी को काव्य में भी व्यक्त करने की चेष्टा की जाय तो उसका रूप थोड़ा-बहुत बदल जायगा। 'कामायनी' और 'रंगभूमि' दोनों में अपने समय की वास्तविकता—भौतिक औद्योगिक सभ्यता का प्रसार है, लेकिन दोनों के रूप और प्रकार भिन्न हैं।

इस दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि संगीत-रूपक में जो वास्तविकता होती है, वह तथ्यमूलक न होकर भावमूलक और अनुभूतिमूलक होती है। उसमें स्थान-स्थान पर तथ्यमूलक वास्तविकता भी हो सकती है, लेकिन उसकी प्रधानता नहीं होती। यदि ऐसा होता तो उसका रूपकत्व सार्थक होता। फिर भी जैसा कि हम जानते हैं, शब्द विशिष्ट सन्दर्भ में जाकर अपने अर्थ में थोड़ा-बहुत हेर-फेर कर लेते हैं और कालान्तर में वही अर्थ उनका वास्तविक अर्थ बन जाता है। संगीत-रूपक में रूपक शब्द के साथ ऐसा ही हुआ है।

संगीत-रूपक में कभी-कभी तथ्यमूलक वास्तविकता को भी प्रधान रूप देने की चेष्टा की जाती है। ऐसा सामान्यत: नहीं होता लेकिन विशेषत: होता है। आज-कल हम रेडियो पर कभी कभी विशिष्ट व्यक्तियो या स्थानों के जीवन और क्रिया-कलापों के सम्बन्ध में संगीत-रूपक सुनते हैं। ऐसे संगीत-रूपकों में जानबूझ कर तथ्यमूलक वास्तविकता को समेटने की चेष्टा की जाती है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया जाये तो सम्बन्धित व्यक्ति या स्थान का पूरा-पूरा चित्र नहीं उभरेगा और संगीत रूपक अपने प्रभाव में निष्फल होगा। लेकिन ऐसा होने पर भी जहाँ संगीत रूपककार को अवसर मिलता है, वह तथ्यों से किंचित् अलग होकर भावों और अनुभूतियों को उद्दीप्त करने की

चेष्टा करता है। ऐसे संगीत-रूपकों में भी रूपकत्व और काव्यत्व का अनुपात पचास-पचास का या साठ और चालीस का होता है।

संगीत-रूपक पर विचार करते हुए आलोचकों ने उसके कितने ही प्रकार गिनाये हैं। श्री सिद्धनाथ कुमार अपनी पुस्तक 'रेडियो नाट्य-शिल्प' में लिखते हैं, आजकल जो संगीत रूपक लिखे जाते हैं, वे निम्नलिखित कोटियों में आ सकते हैं—

१. जो कल्पित कहानियों पर आधारित होते हैं।
२. जो कवियों और संगीतज्ञों के जीवन पर आधारित होते हैं।
३. जिनमें प्राकृतिक सौन्दर्य चित्रित होता है।
४. जिनमें पर्याप्त नाटकीयता भी होती है।

इन चारों प्रकार के संगीत-रूपकों को उन्होंने क्रमशः संगीत-कहानी, संगीत-रूपक, संगीत-चित्र और संगीत-नाटक की संज्ञा दी है।

मैं श्री कुमार के कथन को तनिक संशोधन के साथ स्वीकार करना चाहूँगा। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, संगीत-रूपक में नाटकीयता तो हर हालत में अनिवार्य है, चाहे किसी कहानी का आधार लिया गया हो या कोई प्राकृतिक चित्र उपस्थित करने की चेष्टा की गयी हो। इसलिए संगीत-नाटक तो उपर्युक्त तीन प्रकारों में ही अन्तर्मुक्त हो जाता है। अब रही बाकी तीन प्रकारों को अलग-अलग स्वीकृत करने की बात। इन तीनों, अर्थात् संगीत-कहानी, संगीत-रूपक और संगीत-चित्र को हम संगीत रूपक ही मानेंगे, क्योंकि ये तीनों उसके अन्तर्गत हैं। इन्हें साहित्यिक विधा के रूप में अलग अलग मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि इससे संगीत-रूपक के क्षेत्र के संकुचित होने की सम्भावना है। जिस प्रकार विषयवस्तु की भिन्नता के अनुसार उपन्यासों को सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि कोटियों में विभाजित करते हैं, उसी प्रकार संगीत-रूपक के कई भेद उपभेद माने जा सकते हैं, लेकिन वे सभी संगीत-रूपक विधा के अर्न्तगत ही आयेंगे, यह निश्चित है।

आधुनिक युग में संगीत—रूपकों की रचना अधिकाधिक होने लगी है। रेडियो के प्रचार-प्रसार के कारण लेखकों, पाठकों और श्रोताओं का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हो रहा है। आधुनिक युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर आज इस बात की चेष्टा की जा रही है कि संगीत-रूपक का रूप अधिकाधिक लचीला हो। वास्तव में जिस प्रकार आधुनिक युग के आदमी के लिए यह आवश्यक है कि वह हरफनमौला हो, उसी प्रकार अत्याधुनिक साहित्यरूपों के बारे में भी सही है कि वह हर प्रकार की वर्ण्य-वस्तु को कुशलता से व्यक्त करे। आज वही साहित्यरूप अधिकाधिक गतिशील और लोकप्रिय हो सकता है, जो समय की आवश्यकतानुसार विभिन्न भावों, विचारों और अनुभूतियों को सफलतापूर्वक व्यक्त कर सके।

सानेट

सानेट अपेक्षाकृत एक नवीन काव्यरूप है, जिसका आयात हिन्दी में विदेशी काव्य-साहित्य से, उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में प्रारम्भ हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि सानेटों का जन्मस्थान इटली है। इटली के सिसिली-स्कूल के कवियों ने सबसे पहले इस काव्यरूप का सफल प्रयोग किया और इसे लोकप्रिय बनाने की चेष्टा की। इटली में सानेट को Sonetto कहा जाता है, जिसका अर्थ है : शब्दों की ऐसी रचना, जो किसी प्रकार के वाद्ययंत्र के सहारे गायी जा सके। सानेट पहले गाने के लिए ही लिखे जाते थे।

सानेट का प्रचलन यद्यपि तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ, तथापि सोलहवीं शताब्दी तक इसका प्रयोग अपेक्षाकृत सीमित रहा। सबसे पहले इतालवी के कवि पेट्रार्क के द्वारा इसका रूप निश्चित किया गया और उसी के प्रयोगों के फलस्वरूप यह काव्यरूप अधिकाधिक कलात्मक प्रतीत होने लगा। पेट्रार्क के नाम पर इसका नाम भी पेट्रार्कियन सानेट पड़ा, जो इटली में आगे चलकर खूब प्रचलित हुआ। इस काव्यरूप का प्रयोग अंग्रेजी और जर्मन साहित्य में भी किया गया, जिसमें रोमांस-साहित्य का तो वह प्रिय काव्यरूप ही रहा। सुप्रसिद्ध जर्मन कवि दाँते ने भी इसका सुन्दर उपयोग किया।

आगे चलकर यह नवीन काव्यरूप यूरोप के प्राय: सभी प्रमुख देशों की उन्नत और समृद्ध भाषाओं में प्रचलित हो गया। इतालवी, फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्य में इसका सम्यक् प्रचार हुआ। इन विभिन्न भाषाओं में सानेटों का प्रयोग तो हुआ, लेकिन उनकी भिन्न भिन्न विशेषताएँ रहीं। प्रत्येक भाषा में सानेट के चरणों के अक्षरों की संख्या अलग-अलग रही। इतालवी में ग्यारह, फ्रांसीसी में बारह और अंग्रेजी में दस अक्षरों वाले चरणों का प्रयोग किया गया। किन्तु एक बात समानरूप से सभी भाषाओं के सानेटों में स्वीकृत की गई। वह थी चरणान्त और अन्त्यानुप्रास का क्रम।

अंग्रेजी में सानेट का प्रयोग सर्वप्रथम सर थामस वायट ने किया। १८वीं शताब्दी तक इटली के इस काव्यरूप की समस्त विशेषताएँ अंग्रेजी

में आ गई; शेक्सपीयर, स्पेन्सर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, ब्राउनिंग आदि समर्थ कवियों ने इस नवीन काव्यरूप को बड़े उत्साह के साथ स्वीकार किया। अंग्रेजी साहित्य में शेक्सपीयर और स्पेन्सर के सानेटों की अपनी विशेषताएँ रहीं—भावभूमि की दृष्टि से भी और छन्द-विधान की दृष्टि से भी। इसीलिए, ये दो प्रकार के सानेट अपने प्रवर्त्तकों के नाम पर शेक्सपीरियन सानेट और स्पेन्सेरियन सानेट के नाम से अभिहित किये गये।

शेक्सपीयर ने सानेट के जिस रूप को अपनाया, वह इटालियन सानेटों से भिन्न है। इटालियन सानेटों में सानेट का आकार दो भागों में विभक्त रहता है। एक अष्टपदी (Octave) आठ पंक्तियों का और दूसरा षट्पदी (Sestet) छह पंक्तियों का। पर, शेक्सपीयर ने इस विधान को स्वीकृत नहीं किया।[१] उसने सानेटों का रूप बहुत-कुछ स्पेन्सर की भाँति रखा। स्पेन्सर ने सानेटों को चार-चार पंक्तियों के तीन पदों (Quatrains) में विभाजित कर, अन्त में द्विपदी (Couplet) का प्रयोग किया। उदाहरण के लिए, एक हिन्दी सानेट लिया जा सकता है, जो इस विधान के अनुसार है—

सुन्दरी के पैरों में देखी जब सोनहली
नरम बाल वाली और गोल श्वेत चत्तों की
चप्पल, तो देख उसे याद आयी हिरनों की
खुले चारागाहों में चौकड़ियाँ पहली

याद मुझे आया भूत, वर्त्तमान, भावी
याद न आई मुझे किसी भगवान की
याद मुझे आई सिर्फ भगवती जानकी
मारीच आया वन हेम-हिरन मायावी

आज भी सुवर्ण हमें तुम्हें ललचाता है
आज भी हमारी देवियों को वही कंचुकी
पहनने की इच्छा है। किन्तु वह बन चुकी
आज राम शरासन ले वन में कहाँ जाता है

---

१. Shakespeare did not observe the regular form, but broke up his sonnets into three verses of four lines each of alternate rythm with a concluding couplet.

The study of literature, Page 64

लक्ष्मण की रेखा खुद लक्ष्मण मिटाता है
खुशी खुशी सीता संग रावण मुस्काता है।

—प्रभाकर माचवे

शेक्सपीयर ने सानेट के इसी विधान को स्वीकृत किया। पर शेक्सपीयर और स्पेन्सर में कुछ बातों को लेकर अन्तर भी है। स्पेन्सर तुक की शृंखलाबद्धता पर बहुत जोर देते हैं, जब कि शेक्सपीयर इसे बहुत आवश्यक नहीं समझते। शेक्सपीयर ने सानेट के रूप की अपेक्षा उसके भाव पर अधिक ध्यान दिया है। उनके सानेटों में मानव जीवन की मार्मिक अनुभूतियों की जो निश्छल अभिव्यक्ति हुई है, वही अधिक महत्वपूर्ण है।

पहले सानेटों का सम्बन्ध प्रेम के प्रसंगों से था। सिडनी, स्पेन्सर और शेक्सपीयर की भाव-सम्पदा प्रायः प्रेम की विविध मार्मिक अनुभूतियाँ ही हैं। किन्तु, पीछे चलकर मिल्टन और वर्ड्सवर्थ जैसे कवियों ने इसकी भावभूमि का विस्तार किया। इस प्रकार, सानेट प्रेम-प्रसंगों की सीमित परिधि से मुक्त हुआ। वर्ड्सवर्थ ने तो सानेटों को लौकिक स्तर से उठा कर अलौकिक भाव-स्तर पर स्थापित किया और उसमें एक प्रकार की आध्यात्मिकता का समावेश कर दिया। बाद में तो सानेटों का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया।

सानेटों की विशेषता उनकी गेयता और संक्षिप्तता है। सेनेटो शब्द उसकी गेयता को स्पष्ट करता है, पर इसके निश्चित छन्द-विधान से इसकी संक्षिप्तता भी सूचित होती है। कवि को जो कुछ कहना रहता है, उसे चौदह पंक्तियों में ही कहता है। सानेट लेखन में छन्द और भाव सम्बन्धी प्रतिबन्ध कम नहीं हैं। इसमें विभिन्न लयों (Contrasted Rythm) के सहारे एक ही भाव को स्पष्ट करना पड़ता है, जिसमें एकान्विति (Unity) पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। पंक्तियों के संयोजन में अन्तर होने पर भी भाव-धारा टूटे नहीं, इसका ध्यान रखना पड़ता है। एक ही भाव का निर्वाह करते हुए भी, उसे विभिन्न गति-भंगिमाओं से व्यक्त करना होता है। अष्टपदी के बाद ही भावों की भंगिमा में परिवर्त्तन आवश्यक समझा जाता है।

सानेट में अष्टपदी और षट्पदी का अपना-अपना कार्य होता है। सानेट के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा गया है: A sonnet should contain the expression of one single idea, impluse or

sentiment which it is usual to unfold in the octave and illustrate in the sestet.[१]

सानेट के एक अन्य प्रकार का भी उल्लेख किया गया है, जिसमें अष्टपदी और षट्पदी न होकर दो चतुष्पदियों के बाद तीन द्विपदियाँ होती हैं और इस प्रकार चौदह चरण होते हैं। Sometimes instead of eight continuous lines we have two stanzas of four lines each or two quatrains and similarily instead of one verse of six lines we have two or three lines each or two tercets.[२]

सानेट के लिए हिन्दी में चतुर्दशपदी शब्द का व्यवहार होता है, जो इस काव्यरूप के वाह्य विधान को देखते हुए प्रायः ठीक ही है। हिन्दी में सानेटों का प्रयोग छायावाद-युग में प्रारम्भ हुआ। हिन्दी के कवियों पर जहाँ स्पेन्सर और शेक्सपीयर के सानेटों का प्रभाव है, वहाँ वे इटालियन सानेटों के प्रभावों से भी अछूते नहीं हैं। इसलिए, उन्होंने अपने प्रयोग का आधार दोनों प्रकार के सानेटों को बनाया।

हिन्दी में कुछ और प्रकार के सानेट भी लिखे गये हैं। देखिये प्रभाकर माचवे का यह सानेट—

प्राण नहीं हैं मेरे सन चौवन के कैलेण्डर से सीमित
प्राण नहीं मेरे दिल्ली की शरणार्थी बस्ती में कीलित
देश-काल से परे कल्पना कमल उठा कीचड़ से बढ़ ही
वह कीचड़ के बिना नहीं है, किन्तु नहीं है वह कीचड़ ही
ईसा नहीं लकड़हारा या कृष्ण नहीं है अहीर केवल
वह क्या है जो इन सबसे छन कर मेरी सांसों को दे बल ?
मैं इतिहास-प्रवाह-पतित तिनका ही नहीं ! मित्र, मैं चिन्मय !
मैं इन लहरों का आरोही, मैं अंकुर हूँ, मैं हूँ मृण्मय !
यह धरती कहलाती इसीलिए है धरा, हढ़ा या वसुधा
यह है रसा, अहल्या; यह तो बड़ी अपारा, सब सुख सुविधा—
दे देगी यह, पर न कभी माँगेगी मुझसे कुछ बदले में
यह मानव से प्यार करेगी चाहे वह बदले नित खेमे !
मैं क्या केवल यह क्षण हूँ ? या वाहक युग-युग की परम्परा का ?
सबको समतल करने वाले ! क्या मुझ पर डालोगे डाका ?

---

१. The study of literature, Page 64.
२. Ibid

इस सानेट में चौदह पंक्तियाँ तो हैं पर यह सात द्विपदियों का समुच्चय है। सानेट का यह विधान प्रचलित विधान से एकदम भिन्न है और हिन्दी की अपनी चीज है।

हिन्दी में सानेटों का प्रयोग सबसे पहले किसने किया, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। सानेटों के प्रवर्त्तक के रूप में साधारणतः तीन नाम लिये जाते हैं—जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत और नरेन्द्र शर्मा। निरालाजी भी इस काव्यरूप की ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने भी इसका प्रयोग किया। बाद में दिनकर, बालकृष्ण राव, प्रभाकर माचवे और त्रिलोचन शास्त्री भी इस ओर झुके। माचवे और शास्त्री ने सानेटों पर काफी श्रम कर इस काव्यरूप को मांज कर खूब चमका दिया। त्रिलोचन की मान्यता है कि सानेट में कसा-कसाया अनूठा भाव इस प्रकार प्रकट हो, जैसे आगरे के किले का नग पूरे ताजमहल से दिखाई पड़ता है।[1] तभी सानेटों की सफलता और सार्थकता है। त्रिलोचन और माचवे के सानेटों की विशेषता उनकी व्यंग्यपूर्ण अभिव्यंजना और चुटीलापन है। बाद के कवियों में यह काव्यरूप अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया।

१. देखिये 'दिगन्त' का पहला सानेट।

परिशिष्ट

हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास

'देहाती दुनिया'

•

सन् १९५० ई० में ग्रंथमाला कार्यालय, पटना से 'देहाती दुनिया' का नवीन संस्करण प्रकाशित हुआ। जिसके वक्तव्य में श्री शिवपूजन सहाय जी ने लिखा है—"आज से लगभग पच्चीस साल पहले यह उपन्यास देहाती भाइयों के मन बहलाव के लिए निकला था। गाँव-गँवई में यह खूब पसन्द किया गया। पुस्तक भंडार से इसके चार संस्करण निकल चुके थे।" इससे स्पष्ट है कि देहाती दुनिया का प्रथम संस्करण सन् १९२५ ई० के लगभग निकला होगा। यह वह काल है जब प्रेमचन्द के उपन्यास 'प्रेमाश्रम' (सन् १९२३), 'रंगभूमि' (सन् १९२५) और 'कायाकल्प' (सन् १९२६) प्रकाशित हुए। इसलिए 'देहाती दुनिया' का मूल्यांकन करते समय हमें यह ध्यान में रखना है कि यह एक प्रेमचन्द–युगीन उपन्यास है। लेकिन 'देहाती दुनिया' के सम्बन्ध में जो मुख्य बात है, वह यह कि इसके लेखक ने उसे उपन्यास न कहकर 'ठेठ देहात का औपन्यासिक चित्र' कहा है। इसलिए इसका मूल्यांकन एक प्रेमचन्द-युगीन उपन्यास मानकर भी आंचलिक उपन्यास के रूप में किया जाना समीचीन है; अर्थात् हम देहाती दुनिया को प्रेमचन्द और फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों के बीच की कड़ी के रूप में देखेंगे।

आंचलिक उपन्यास भी उपन्यास ही है, लेकिन प्रेमचन्द–युगीन उपन्यासों की धारणा से आंचलिक उपन्यासों की धारणा का मेल नहीं खाता। इसके कारण हैं। *सामान्य उपन्यास जहाँ काल्पनिकता के आधार पर खड़े होते हैं और पात्रों का रहन-सहन, बात-बर्ताव अधिकतर कल्पना पर आधारित होते हैं, वहाँ आंचलिक-उपन्यासों की कथा और पात्रों और उनकी गतिविधियों पर आंचलिकता का अंकुश रहता है। आंचलिक उपन्यासकार भी* सामान्य उपन्यासकारों की भाँति कथा गढ़ने और चरित्रों की अवतारणा करने के लिए स्वतंत्र है—लेकिन वहीं तक जहाँ तक कि उनका सम्बद्ध आंचलिकता से विरोध नहीं होता। जहाँ विरोध की सम्भावना हुई, वहाँ उपन्यासकार को आंचलिकता के अनुसार कथा और चरित्रों को मोड़ना होगा। इसलिए साधारण उपन्यासों के गुण-दोष आंचलिक उपन्यासों की कसौटी पर खरे नहीं

उतरते। इसी बात को ध्यान में रखकर श्री शिवपूजन सहाय ने देहाती दुनिया के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में कहा है—"मैंने यह पुस्तक जिन लोगों के लिए लिखी है, वे बेचारे यह नहीं समझते कि साहित्यिक सहृदयता क्या चीज़ है। वे उपन्यास पढ़ते खूब हैं, पर उसका लक्षण या गुण-दोष नहीं जानते। इसीलिये मैंने पहले-पहल इस रूप में उन्ही लोगों के लिए कुछ लिखना पसन्द किया सो भी अपने मन से नहीं, उन्हीं लोगों की प्रेरणा से।" इससे स्पष्ट है कि सहाय जी ने जान-बूझकर इस उपन्यास में उपन्यास की रूढ़ धारणा से अपने को दूर रखने की चेष्टा की, क्योंकि यदि वे ऐसा नहीं करते तो एक सफल उपन्यास भले ही लिख लेते, ठेठ देहात का औपन्यासिक चित्र नहीं प्रस्तुत कर पाते। लेकिन ठेठ देहात का औपन्यासिक चित्र प्रस्तुत करते हुए भी क्या वे उपन्यासकार के दायित्व को पूरा नहीं करते? इसी प्रश्न के उत्तर पर यह सिद्ध करना निर्भर करता है कि वे आंचलिक चितेरे होकर भी उपन्यासकार हैं।

आंचलिक उपन्यासों के लिए जो सबसे आवश्यक तत्व है, और जिसका उल्लेख मैंने अन्यत्र किया है, वह वस्तुनिष्ठता है। सामान्य उपन्यासकारों की तुलना में आंचलिक उपन्यासकार अधिक वस्तुनिष्ठ होता है। इसीलिए 'देहाती दुनिया' के लेखक ने भी लिखा है—"मैंने स्वयं जो कुछ देखा-सुना है, उसे यथाशक्ति ज्यों-का-त्यों इसमें अंकित कर दिया है। इसका एक शब्द भी मेरे दिमाग की खास उपज या मेरी मौलिक कल्पना नहीं है। यहाँ तक कि भाषा का प्रवाह भी मैंने ठीक वैसा ही रखा है, जैसा ठेठ देहातियों के मुख से सुना है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आंचलिक उपन्यासकार वस्तुनिष्ठ कुशल चितेरा होता है और यह उसकी सूक्ष्म संवेदनशील तूलिका पर निर्भर करता है कि प्रत्यक्ष जीवन के कैसे-कैसे चित्र उरेहता है। उदाहरण के लिए हम 'देहाती दुनिया' के कुछ प्रसंग लें। जब गाँवों में पारिवारिक कलह होता है, जिसमें स्त्रियाँ योद्धा का पार्ट अदा करती हैं, तो वहाँ का दृश्य ऐसा होता है—

"हवेली का आँगन कुरुक्षेत्र बन गया। झाड़ू बना धनुष और मूसल बना गदा! बेलना और लोढ़ा तीर तलवार बने! भाले की जगह धमाधम घूँसे चले। झोंटे नुचे। कितने ही घड़े फूटे। बड़ी घमासान की लड़ाई हुई।"

यदि ग्रामीण सौन्दर्य का जीता-जागता चित्र देखना हो तो बुधिया और सुगिया का रूप देखिये—"मौज से कमाने-खाने के कारण उसका अंग-अंग खिल उठा। जब पेट भरने लगा तब मन भी चौकड़ी भरने लगा। देह चिकनाने लगी। बरसात का जल जैसे जाड़े में निर्मल हो जाता है वैसे जवानी

चढ़ते ही बुधिया का रूप मधुर हो गया। वह अब सहज ही आँखें चुराने और मुस्कराने लगी।"

"सुगिया की आँखें बन्द थीं। उसके ओठ काँपते थे। लालटेनों की धीमी रोशनी में उसके गोरे मुँह पर पड़ी हुई पसीने की बूँदें नजर आती थीं। लम्बी-लम्बी कजरारी आँखें, बाँकी तिरछी भवें, पतली नाक, सुबुक ठुड्डी, गुलाबी गाल, ऊँचा लिलार, अनारदाने-से दाँत, बिखरे हुए चिकने बालों के घुंघराले गुच्छे, देह पर गजब का पानी ! मानो देह के रोम-रोम को शोभा चूम रही हो।"

यदि ग्रामीण वुड्ढों का खीझने वाला रूप देखना हो तो तिवारी जी को लीजिये जो क्रोध में आकर कहते हैं—"बैजू साला इतना पाजी लड़का है कि एक दिन मुझे भी खिझाता था। अब मेरी आँखों की जोत मंद हो गई। नहीं तो उस दिन साले को पकड़ पाता तो खून पी जाता। अपने घर के लड़कों को ललकार दूँ तो साले को कच्चा ही चबा जायं।" गाली देने वाले लोग ऐसे आशीर्वाद भी देते हैं— "भगवान आपको बनाये रहें। बेली-चमेली की तरह फूले रहिये। वंश बढ़े। बरकत हो। आपका ही दिया न खाता हूँ ! भगवान एक से इक्कीस करे, यही मनाता रहता हूँ।"

आंचलिक उपन्यासों में जब पात्र किसी नैसर्गिक नियम की ओर संकेत करते हैं तो उनकी शब्दावली अपने ढंग की होती है। नौजवान बेटा चला जाता है और बाप बैठा रह जाता है। इस बात को ग्रामीण पात्र इस प्रकार कहते हैं—"उस खेलाड़ी के अजब खेल हैं। वहाँ भी उसी की माँग है जिसकी यहाँ। काल भी देख-देख कर नयी गोटी मारता है। हम लोग भी दातुन तोड़ने के लिए बाग में जाते हैं तब खूब छरहरा गोजा तजबीज करके ही तोड़ते हैं। घुना हुआ अनाज खाना कोई पसन्द नहीं करता। कुम्हलाया हुआ फूल माली नहीं तोड़ता। लकड़हारा सीधे पेड़ों की तलाश में जंगल में घूमा करता है।"

यदि ग्रामीण पात्रों का मनोविज्ञान देखना हो तो एक ओर सुगिया का वह आक्रोश देखिये, जब वह अपने खूसट पति गुदरीराय के बारे में कहती है—"सन्दूक में और इसके रुपये पैसे में आग लगा दूँगी।। प्रेत के ऐसा मुँह लेकर आता है, मेरा मुँह चूमने। जी में तो आता है कि झाड़ू लेकर मुँह में मार दूँ। मुझे अपनी नतनी के बराबर देख कर भी तनिक नहीं लजाता। मुँहझौंसे के किसी अंग में छूकर भी लाज नहीं है। मुझे अपनी खुरदरी दाढ़ी और पिचके हुए गाल दिखाने आता है। सुरती-तमाकू खाते-खाते तो अभागे

का मुँह सूअर की खोभार हो गया है, बातें करते भी जी घिनाता है। बोलने लगता है तो थूक के फुहारे पड़ने से मेरा मुँह भर जाता है, नाक फटने लगती है। न जाने इसके साथ मेरे दाना पानी का मेल जुटाते समय भगवान का कपार क्यों नहीं फट गया।" लेकिन जब यही गुदरीराय मारा जाता है तो वह रोती है—"हाय राजा ! मुझे अकेली छोड़ कहाँ चले गये ! हाय ! तनिक बोलो मेरे राजा !" यह है ग्रामीण पात्रों के चरित्र का उतार-चढ़ाव जो शहरी पात्रों की तुलना में कम जटिल और स्वाभाविक है।

जब दारोगा सुगिया को छल-प्रपंच से अपनी अंकशायिनी बनाना चाहते हैं, और उसके सामने अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ खड़ी करते हैं, और उससे जवाब-तलब करते हैं, तो वह कहती है—"अभी मेरी माँग में खली भी नहीं लगाई गई है, चूड़ियाँ भी नहीं फूटी हैं, आँसू भी नहीं सूखे हैं, हरा घाव है। कैसे क्या जवाब दूँ ?"

गाँवों में जो नाच-गान होता है, और उसको देखने वालों का जो सौंदर्य बोध है, उसका विवरण लेखक ने इस प्रकार दिया है—"तबला चाहे दिल्ली की ओर, सारंगी ढाके की ओर और जोड़ी झाँसी की ओर और बीबी दारजिलिंग की ओर जा रही हों तो जाँय भले ही, तमाशबीनों को तबला, सारंगी और मंजीरे से कुछ मतलब नहीं, सिर्फ चुहलबाजी से काम क्योंकि उनके लिए तो वही घुड़चढ़ी टकाही लाख 'छपनछुरी' से बढ़कर ! अंधे सियार को पीपर मिठाई।"

यदि नववधुओं पर गाँव की बड़ी-बूढ़ियों का अत्याचार देखना हो तो गोवरधन की माँ को लीजिये—"बेचारी भोली-भाली पतोहू को किसी न किसी काम में नांथे रहती—आधी रात तक तेल लगवाती, देह दबवाती, पंखा झलवाती, बरतन मंजवाती, मनसाघर लिपवाती, चक्की पिसवाती, बेचारी को हरदम फिरहिरी की तरह नचाती रहती।"

यदि देहात के भोजन भटों का कमाल और उनकी जबान की सफाई देखनी हो तो दुरजोधन तिवारी हाजिर हैं, जो चटनी के सम्बन्ध में कहते हैं—"आला दरजे की बनी है। जीभ रूपी घोड़े के लिए भगवान ने यह कोड़ा बनाया है।" और आलू का बखान इस प्रकार होता है—"आलू तो सब तरकारियों का राजा है। बकला छील देने पर मोतीचूर बन जाता है। मालूम होता है कि सोने का लड्डू है। अरे, आलू बैंगन तो भगवान को इतना रुचा कि खाते-खाते खुद आलू बैंगनमय हो गये। देख लो शालिग्राम जी को।"

केवल मनुष्यों की ही बात नहीं, यदि जानवरों का जीवंत चित्र देखना हो तो यह स्थल लीजिये—"बाबूजी घोड़े के पास गये। उन्हें देखते ही आम के पत्तों की तरह उसकी कनौतियाँ खड़ी हो गई। हिनहिना कर मोर की तरह ठुमक-ठुमक नाचने लगा। उसके पैरों में पड़े हुए छड़े उसकी थिरक पर छमछम का ताल देने लगे।"

यदि ग्राम्य विनोदों की झाँकी लेनी हो तो वह स्थल लीजिये जब बारात गाँव के अन्दर पहुँचती है और नयी नवेलियाँ पालकी की ओर निहुर कर झाँकती और मुस्करा कर कहती हैं—'हाय रे राम! ताड़ बराबर कनिया का वर यही है! इसको तो वह अपने लहँगे में छिपा लेगी। यह उसका दूध पियेगा कि माँग भरेगा।" इस पर भला कहार कब चुप रहने वाले थे, आवाज़ कसते हुए बोले—"वर को छोटा मत जानो, साल भर के भीतर ही पेट फुलायेगा। कलजुग है—अब इतने ही बड़े टाबर अंडा देने लगे। ब्याह हुआ होता तो यह भी अब तक एक चुहिया निकाले होता। देखने ही भर को छोटा जानो—बन्दूक की टोपी है, घोड़ा पड़ते ही फैर दागेगा।"

ये विस्तृत उद्धरण इसलिए दिये गये कि ऐसे यथार्थमूलक चित्रों के आधार पर ही आंचलिक उपन्यास-आंचलिक चित्रण कहलाता है। यदि किसी आंचलिक उपन्यास में बोली-ठोली, बात-बर्ताव और रीति-रस्म के ऐसे जीवंत उदाहरण नहीं हैं तो वह आंचलिक उपन्यास होने का दावा नहीं कर सकता।

वस्तुनिष्ठता के एक अंश के रूप में भाषा और भू-भाग का यथातथ्य चित्रण भी आंचलिक उपन्यासों के आवश्यक तत्व हैं। भाषा का आंचलिक वैभव तो 'देहाती दुनिया' में पद-पद पर प्रदर्शित है। यदि देहाती शब्द देखने हों तो झोटा-झोटी, गपड़चौथ, घरघुसना, खुनसाना, कपार, नँह, चोरकट, तीन-नागा, रेजा-पैया, अपसर, गारी, गोरमिटी, खड़यन्त्री, जमा-जथा कनचप्पड़, हरवा-हथियार, धोबी-पछार, करकस, मामलेगीर, गहना-गुरिया, मुरछा, झोंझ-खदुक, मिठबोलिया, सामी, डायन-चबायन, रंडहो-पुतहो, फगुनहट और डीहवार जैसे शब्द लिये जा सकते हैं। यदि देहाती कहावतों और मुहावरों के चुभते हुए रूप देखने हों तो 'पड़ते ही उतान हो गई, गुमान और टिमाक, पराये धन लक्ष्मीनारायण, आँखे लुत्ती सी चमकना, छक्का-पंजा भूल जाना, देखने में टिटहिरी सा मालूम होना, खोरहे कुकुर की दशा, बिना मेंह की दँवरी, भाग साला तो रेंड की कलम से लिखा गया है, बांस के वंश में घमोई, खाइये वहाँ अचाइये यहाँ, धुरियाये पाँव लौटना, बात को कई बार फेंट कर जी मठा करना, गरियारी काढ़ना, सूखे घाट उतार देना, बिना नाधा-पैना के हो जाना, करवा-कोपीन कर छोड़ना, नखड़ा काढ़ना, दिल से धुआँ उठने लगना,

छिनाल छत्तीसी झाड़ना, रुपये में तीन अठन्नी बनाना, नकिया जाना, सूख कर अठई हो जाना, दगे सांड की तरह फसल चरना, ऊपर राम राम भीतर सिद्ध काम, माला दूहने लगना, मुफ्त की गंगा हराम का गोता, पोठिया की तरह रुपया बिछाना, मारते-मारते खलिहान लगा देना, थैली की पेंदी काटना, पेसाब से चिराग जलाना, इरखा का करखा हो जाना, चांदी के बाल उड़ा देना, धोती ढीली करना, छप्पर पर खपड़ा न रहने देना, आदि कितने ही मुहावरे और कहावत लिये जा सकते हैं। यदि नुकीले और व्यंजक विशेषण देखने हों तो अगड़धत ज्योतिषी, पेट पोछनी लड़की, वेहंगम लड़का, खंजरी सा चढ़ा पेट, मनचले नीमूछियों की टिटकारी, चोरहटिया अहीर, बजरबोंग सी लाठी, जबरजंग लठधर, लंगूरी पूँछ, घुड़चढ़ी कसवियाँ, लहुरा देवर, अँखफोड़ बच्चे, रेखउठान छोकड़े, उपटा जवान, कठकरेज मरद, करखांही हांडी जैसे प्रयोग लिये जा सकते हैं। लेखक ने ऐसे प्रयोगों द्वारा ग्रामीण संस्कृति को मूर्त रूप दे दिया है। आंचलिकता इनके साथ लिपटी सी चलती है।

अब संक्षेप में हम 'देहाती दुनिया' को प्रेमचन्द-युगीन पृष्ठभूमि में रखकर देखने की चेष्टा करेंगे। क्या 'देहाती दुनिया' के गाँव-देहात प्रेमचन्द के गाँव देहातों से मिलते-जुलते हैं? इस प्रश्न के उत्तर के आधार पर ही यह कहा जा सकेगा कि शिवपूजन सहाय ने तत्कालीन ग्रामीण जीवन को केवल बोली-ठोली, रीति-रस्म के आधार पर मूर्त न करके, उसको युगीन वास्तविकता के साथ चित्रित किया है।

जिस प्रकार प्रेमचन्द के किसान उच्चवर्ग के अत्याचार के शिकार हैं, उसी प्रकार 'देहाती दुनिया' का खेदू भी बाबू रामटहलसिंह की कोप-दृष्टि से त्रस्त है। ठीक प्रेमचन्द के पात्रों की तरह ही शिवपूजन सहाय के पात्र भी देहात से तंग आ गये से लगते हैं। खेदू कहार की पत्नी सोनिया कहती है— "न जाने राम सहर में क्या धरा है? यहाँ तो दिनभर हड़तोड़ मेहनत करने पर भी पेट नहीं भरता। साग-सत्तू या टटका-बासी जो कुछ मिल जाता है, वही खाकर रहना पड़ता है। काम कराने वाले बहुत हैं मगर मजूरी देने की बेर सबकी छाती फटने लगती है।" ऐसे स्थलों पर हमें अनायास प्रेमचन्द का स्मरण हो आता है। उन्होंने भी भारतीय किसानों को ग्रामीण उत्पीड़न (बेगार आदि) से तंग आकर शहर की ओर भागते दिखलाया है।

जिस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में स्थान-स्थान पर उच्चवर्ग के जीवन की विडम्बना का चित्रण किया है, उसी प्रकार शिवपूजन सहाय

भी करते हैं। महादेई और बुधिया बाबू रामटहलसिंह के जीवन को कुछ वैसा ही बना देती है जैसा 'काया कल्प' की रोहिणी आदि राजा विशालसिंह के जीवन को। इस प्रकार उच्चवर्ग के जीवन की विकृतियों को चित्रित करना दोनों का उद्देश्य है।

जिस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासों में पुलिस के अत्याचारों के साथ जन-जागृति के अनेक सजीव स्थल मिलते हैं, उसी प्रकार 'देहाती दुनिया' में भी कहीं तो पुलिस के अत्याचार अपनी चरम सीमा पर हैं और कहीं गाँववाले उनकी साफ अवहेलना करते हैं, आपस में काना-फूसी करते हैं और काफी हुज्जत के बाद अपना नाम बताने को तैयार होते हैं और जब बताते भी हैं तो गलत-सलत। अंत में इनके हाथों पिटकर सिपाहियों को भागना भी पड़ता है। इस प्रकार प्रेमचन्द की भाँति ही शिवपूजन सहाय भी भारतीय जनता को उसकी दृढ़ता, निर्भीकता और संघर्षशीलता के साथ चित्रित करते हैं। वास्तव में 'देहाती दुनिया' जिस समय के देहात का चित्र है, उस समय का देहात ऐसा ही था। एक ओर विदेशी शासन से डरता हुआ और दूसरी ओर उससे लोहा लेने को उत्सुक।

पुलिस के अत्याचारों से तंग आकर किस प्रकार निरीह किसान तनकर खड़ा होता है, इसका उदाहरण है 'देहाती दुनिया' का पिलुआ। जब नूरू मियाँ उसकी बीवी की बेइज्जती करना चाहता है तो उसकी देह का खून खौल उठता है वह कहता है—"मियाँ-टियाँ होकर बहुत ठसके मत दिखाओ। घर में सनहक और बधना भी नहीं होगा। यहाँ सिर पर लाल पगड़ी बाँधने से नवाब मत बनो। दस ठो चानी की टिकुली पाते हो, बस समझते हो कि दुनिया में और कोई इज्जतदार है ही नहीं। मेरी स्त्री तुम्हारी मियाँइन की तरह उड़ाई-फँसाई नहीं है। गरीब होने से मैं अपनी स्त्री की बेइज्जती न सहूँगा।"

पुलिस पर शिवपूजन सहाय भी बहुधा प्रेमचन्द की भाँति ही चुभती फब्तियाँ कसते हैं या व्यंग्य करते हैं। उदाहरण के लिए ये पंक्तियाँ लीजिये—"पुलिस केवल भू-लोक का ही नवग्रह नहीं है, पाताल की भी डाकिनी है। सनीचर की नजर से बच जाना आसान है, नदी में मगर से पिंड छुड़ा लेना सहज है, पर यमलोक में छिपकर भी पुलिस के चंगुल से बचना बड़ा कठिन है।"

"देहात में दारोगा को जो दावत दी जाती है, वह दुनिया में दामाद को भी दुर्लभ है। भगवान अगर किसी पढ़े-लिखे को पेट दें तो कहीं मुफस्सिली की थानेदारी भी किस्मत में लिख दें।"

चरित्रहीन दारोगा का परिचय श्री शिवपूजन सहाय इस प्रकार देते हैं : 'दारोगा जी जाती के कायस्थ, घूसखोरी बपौती-सनातन धर्म, नई उम्र, सुन्दर डील-डौल, कसी हुई देह, ऐंठी हुई कड़ी नोकदार मूँछें, चमन की क्यारियों की तरह सँवारे हुए बाल, आँखों पर सुनहरी कमानी का चश्मा, नाजुक मिजाज, शौकीन तबीयत, बोतल ढालने का चस्का, शोहदेपन का शौक, नस-नस में शरारत भरी हुई, वासनाओं के पुतले और हरेक बाजी के काजी !"

'देहाती दुनिया' में एकाध स्थल पर शहरी शिक्षा की वैसी ही आलोचना की गई है जैसी प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में करते हैं। ग्रामीण शिक्षा की तुलना में शहरी शिक्षा कैसी है, इसका पता इन पंक्तियों से लगता है—"यहाँ किसी लड़के के माँ बाप अपना दुखड़ा रोने नहीं आते थे। आते भी थे तो गुरुजी की तरह कान लगाकर कोई उनकी सुनता न था। बेचारे रो-गाकर चले जाते थे। उनके लड़के का नाम कट जाता था। फीस का रुपया और पुस्तकों का दाम समय पर न दे सकने के कारण उनके लड़के अच्छरकट्टू ही रह जाते थे।"

पात्रों की दृष्टि से भी 'देहाती दुनिया' में ऐसे कितने पात्र हैं जिनकी तुलना प्रेमचन्द के पात्रों से की जा सकती है। यहाँ भी रंगभूमि के सूरदास जैसा एक सूरदास है जो भीख माँगकर स्कूल बनवाना चाहता है। वह कहता है—"इस्कूल तो सिरिफ इसलिए बनवाना चाहता हूँ कि धनी लोग मुझ जैसे अंधे भिखमगे की हिम्मत देखकर लजायं और कंगाल लोग भीख माँग कर भी अच्छे काम में पैसे लगाना सीखें।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'देहाती दुनिया' एक ओर तो अपने युग के गाँव और देहात का यथार्थ चित्र है, दूसरी ओर उस प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप में सामने रखने वाला उपन्यास है जो आगे चलकर विकसित होनेवाली थी और जिसका विकास हिन्दी में फणीश्वरनाथ-रेणु, नागार्जुन, हिमांशु श्रीवास्तव, रामदरश मिश्र आदि लेखक करने वाले थे।

हिन्दी के नये आंचलिक उपन्यास

ब्रह्मपुत्र

हिन्दी उपन्यास साहित्य का जो नया क्षितिज सामने आया है, उसमें एक नया शुक्रतारा उदित हुआ है ब्रह्मपुत्र। देवेन्द्र सत्यार्थी ने एक भी महत्व-पूर्ण उपन्यास नहीं लिखा, यह शिकायत करने का अवसर अब नहीं रहा। रथ के पहिये, कठपुतली, ब्रह्मपुत्र और दूधगाछ–ये श्री सत्यार्थी की औपन्यासिक कृतियाँ हैं, जिनमें ब्रह्मपुत्र निश्चय ही सबसे पहलेगिना जायेगा। यह महत्वपूर्ण कृति सत्यार्थी की अनायास उपलब्धि नहीं है। इसे उनकी पहली दो कृतियाँ-रथ के पहिये और कठपुतली भी स्पष्ट करती हैं। भाषा का जो वैभव ब्रह्मपुत्र प्रदर्शित करता है, उसका अधिग्रहण क्रमशः हुआ है। रथ के पहिये से लेकर दूधगाछ तक का विन्यास (पैटर्न) प्रायः एक-सा है, जिसमें प्रकार का अन्तर नहीं है, मात्रा का अंतर भले ही हो। सत्यार्थी के उपन्यास इस अर्थ में उपन्यास नहीं हैं कि उनमें उपन्यास का रूढ़ यथार्थ नहीं है। लेकिन यदि उपन्यास जैसे सर्वाधिक लचीले साहित्य रूप के साथ ऐसी कोई अनिवार्य शर्त आवश्यक नहीं है तो हमें मानना होगा कि सत्यार्थी के उपन्यास भी उपन्यास हैं। ये एक नया औपन्यासिक आयाम और मूल्य प्रस्तुत करते हैं। इन्हें आप या तो लोक उपन्यास कहें या काव्य उपन्यास, लेकिन इनकी विशेषता मात्र इसी विशेष संज्ञा तक सीमित नहीं है।

ऊपर उपन्यास के यथार्थ की बात उठाई गई है। सत्यार्थी के उपन्यास-कार को उससे विरोध नहीं है। रथ के पहिये का नायक प्रेमचन्द के सुधारवादी नायकों से बहुत भिन्न नहीं है, वह उन्हीं की परम्परा में चलता हुआ प्रतीत होता है। जब ब्रह्मपुत्र का एक पात्र कहता है—"जैसे करघे पर रेशम बुनते हैं वैसे ही हम नया जीवन बुनने जा रहे हैं" अथवा "जैसे करघे पर कपड़ा बुनते बुनते नये नये नमूने काढ़ते हैं वैसे ही हम नये नये नमूने काढ़ेंगे" तो लगता है कि ये पात्र यथार्थ की भूमि से बहुत दूर नहीं हैं। वास्तव में सत्यार्थी ने साहित्य के सरल सहज यथार्थ को काव्यात्मक परिधान पहनाने की चेष्टा की है और यही साहित्य का जीवंत यथार्थ है, जिसे आज का युग अच्छी तरह पहचानता है। यथार्थवाद और यथातथ्यवाद में अंतर है, लेकिन इस अंतर

पर ध्यान न देते हुए जब यथार्थ के नाम पर विकृत तथ्यों का पिटारा खोल दिया जाता है तो सहृदयों को अरुचि होने लगती है।

ब्रह्मपुत्र का महत्व उसकी कथा को लेकर नहीं, कथा कहने के ढंग को लेकर है। यों कथा की दृष्टि से भी ब्रह्मपुत्र बहुत पीछे नहीं है। लेखक ने यह माना है कि उन्होंने ब्रह्मपुत्र के रूप में एक नई लीक डालने की चेष्टा की है जिसकी परम्परा बंगला में भले ही हो हिन्दी में नहीं है। उपन्यास में नायक के रूप में नदी या पर्वत को प्रतिष्ठित करने की ओर हिन्दी उपन्यासकारों का ध्यान प्रायः कम है। बंगला के सुप्रसिद्ध लेखक मानिक वन्धोपाध्याय ने पद्मा नदी का माँझी नामक उपन्यास लिखकर यह सिद्ध किया था कि किसी नदी और उसके क्रोड़ में पलने वाले भू-भाग को आधार बनाकर उपन्यास लिखा जा सकता है। ऐसे उपन्यासों में मानवी चरित्र भी होते हैं, लेकिन उनके ऊपर नदी या पर्वत का चरित्र ही तैरता नजर आता है। बंगला कथा साहित्य की यह परम्परा मानिक बाबू के बाद भी आगे बढ़ी और हुमायूं कबीर का उपन्यास नदी और नारी उसी की अगली कड़ी है।

बंगला कथा साहित्य की यह परम्परा हिन्दी में कुछ अपने ढंग से और कुछ बंगला से प्रभावित होकर आई। मौलिकता की दृष्टि से भैरव-प्रसाद गुप्त के 'गंगा मैया' को लिया जा सकता है। गंगा मैया में भी मानव चरित्रों का सम्यक् संयोजन हुआ, लेकिन पूरे उपन्यास पर जीवनदायिनी गंगा का भास्वर व्यक्तित्व ही छाया है। यद्यपि गंगा मैया भी ब्रह्मपुत्र या पद्मा नदी का माँझी की परम्परा का ही एक उपन्यास है, लेकिन कई मानी में अपने आप जैसा है। इस संबंध में पहली बात तो यह है कि भैरवप्रसाद गुप्त पर बंगला उपन्यासकारों का कतई प्रभाव नहीं है। वे प्रायः प्रेमचन्द की परम्परा के लेखक हैं। दूसरी बात यह कि देवेन्द्र सत्यार्थी या रेणु की तरह उनमें लोक साहित्य के संस्कार न होकर जन साहित्य के संस्कार हैं। इससे जहाँ उनके उपन्यास में भाषा का वह काव्य वैभव नहीं प्रदर्शित हो सका है, वहाँ अपनी सीमा में मौलिकता का दावा भी कर सकते हैं। लेकिन इससे ऐसा न समझा जाये कि मैं सत्यार्थी या रेणु के उपन्यास को गंगा मैया से हीन बता रहा हूँ। मेरे कहने का तात्पर्य मात्र इतना है कि सत्यार्थी और रेणु ने जहाँ बंगला साहित्य और लोक साहित्य की समृद्ध परम्परा को आयत्त कर अपनी कला का कमाल दिखलाया है वहाँ भैरवप्रसाद गुप्त मात्र अपने आप पर और अपनी परम्परा पर निर्भर रहे हैं। इसीलिये यदि उनमें त्रुटि भी है तो वह क्षम्य हैं।

हिन्दी उपन्यास की जिस विशेषता का उल्लेख ऊपर किया गया है—

अर्थात् मानव चरित्रों के साथ नदी, पर्वत, वृक्ष आदि प्राकृतिक वस्तुओं को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान कर साहित्य में सजीव भाव से स्थापित करना। नागार्जुन का उपन्यास बाबा बटेसरनाथ उसी परम्परा में एक अभिनव प्रयत्न है। जहाँ तक नदियों का प्रश्न है, उन्हें आसानी से व्यक्तित्व दिया जा सकता है क्योंकि उनमें गतिशीलता तो है ही, साथ साथ उनकी धाराओं से सामूहिक जीवन के बहुत से पक्ष जुड़े रहते हैं। लेकिन एक जड़ बरगद के वृक्ष को सजीव बनाकर व्यक्तित्व दे डालना और साहित्य में स्थापित करना पर्याप्त कौशल की अपेक्षा रखता है। और नागार्जुन ने इसी कौशल का परिचय दिया है।

ऊपर ब्रह्मपुत्र की कथा की बात उठाई गई है। लेकिन यहाँ हम ब्रह्मपुत्र की कथा के विभिन्न तत्वों का सांगोपांग विश्लेषण नहीं करेंगे, क्योंकि इस कार्य को करने वाले पुराने आलोचक हमारे बीच मौजूद हैं जो अक्सर कथा का विश्लेषण कर कोई न कोई त्रुटि निकाल लेते हैं और फतवा देने के लहजे में उपन्यास को लचर, घटिया या थर्डरेट कह कर अपनी अहमन्यता का परिचय देते हैं। इसके विपरीत उपन्यास के नये शिल्प का जो नया आयाम प्रस्तुत हुआ है, उसकी ओर झाँकते तक नहीं।

यदि कथा की बात करनी ही है तो ब्रह्मपुत्र के कुछ चरित्रों को ले सकते हैं। यदि उपन्यासकार की सफलता इस बात में निहित है कि वह कुछ ऐसे चरित्रों की सृष्टि करे जो अपने आप में अपूर्व हों और जल्दी विस्मृत न हों तो हमें मानना होगा कि सत्यार्थी ने भी कुछ ऐसे चरित्र दिये हैं। बहुधा एकाध पक्ति में अपने चरित्र को जीवंत खड़ा कर देने की जो शक्ति सत्यार्थी ने उपलब्ध की है, वह किसी भी श्रेष्ठ कलाकार के लिये स्पर्धा का विषय है। इसका कारण है कि लेखक ने अपने चरित्रों से तादात्म्य स्थापित किया है। जिस प्रकार ब्रह्मपुत्र की माया उसके मन के कलाभवन में लोक कथा की सौ वर्ष तक सोने वाली राजकुमारी के समान सोती रही, उसी प्रकार उसके चरित्र भी उसके हृदय में रमते रहे हैं। उपन्यास में एक जगह उल्लिखित है—"उसकी कल्पना में जूनतारा झूमती झामती चली जा रही थी जैसे उसकी बड़ी बड़ी आँखों का मादक अनुराग उसे सहज ही छू रहा है।" लगता है लेखक को अपने गढ़े सभी पात्रों से अनुराग रहा है और उन्होंने सहज ही लेखक के संवेदनशील हृदय को छुआ है। तभी वह अपने चरित्रों के संबंध में ऐसी पंक्तियाँ लिखने में समर्थ हो सका है—"जूनतारा सुहासिनी है, पवित्र वसना है, कल्याणी है।"

न केवल मानव चरित्र, वरन् उपन्यास में आये वातावरण, दृश्य और भू-भाग से भी लेखक का इतना गहरा आन्तरिक स्नेह सम्पर्क है कि उसकी कलम सब का सही चित्र उतार देती है—"हवा में ताज़गी थी। धूप साबुन से धुले शीशे के समान पारदर्शक, आकाश नीलवर्ण।" "माँझुली में उषा कितनी प्रिय लगती है, कितनी संकेतवाहक, कितनी पुष्ट, कितनी आशाप्रद !" प्रकृति का इतना सुन्दर वर्णन श्रेष्ठ उपन्यासों में भी मुश्किल से मिलेगा। किसी स्थान विशेष को लेखक कितनी सजीवता के साथ व्यक्त कर सका है, इसका उदाहरण है निम्नलिखित चित्र—"जैसे मुँह में आँचल दबाकर हँसती है कोई बड़ी बड़ी आँखों वाली नारी, ठीक वैसी ही तो हँसती है माँझुली !" इसे कहते हैं भाषा का सौन्दर्य और जड़ को सजीव बनाने की ईश्वरीय प्रतिभा।

जूनतारा के अतिरिक्त भी जो पात्र हैं—जैसे पुरुषों में देवकान्त, नीरद, अब्दुल कादिर और स्त्रियों में आरती, सब के प्रति लेखक के मन में एक-सा अनुराग है। सत्यार्थी बड़े मनोयोग से प्रत्येक चरित्र के व्यक्तित्व की रेखाओं में रंग भरते हैं, उसे जीवन्त करते हैं। उन्हें किसी से अनावश्यक लगाव-दुराव नहीं है। बहुधा वह कई पात्रों का सामानान्तर चित्र इस खूबी से उतारते हैं कि उसकी कला पर दंग रह जाना पड़ता है। "आरती को हँसते देख देवकान्त भी हँस पड़ा, दोनों नावों के चप्पू हँस पड़े, ब्रह्मपुत्र हँस पड़ा।" जब वह अब्दुल कादिर की एक विशेष भंगिमा का वर्णन करता है तो उसका नमूना इस प्रकार है—"अब्दुल कादिर का सिर नारियल की तरह डोल रहा था।" नीरद के संबंध में एक पात्र कहता है—"जैसे तुम धान उगाते हो, वह लिखता है। लिखना क्या व्यर्थ का काम है ? अकेला आदमी दस हाथियों जितनी बुद्धि रखता है।" इन उदाहरणों से बार बार यही सत्य उभर कर सामने आता है कि लेखक ने अपने दायित्व को अच्छी तरह पहचाना है। और यह पहचान यों ही नहीं आई है, साधना करनी पड़ी है, जिसका संकेत लेखक ने भूमिका की इन पंक्तियों में दिया है—"इस पर तो मैं तनिक भी लज्जित न था कि ब्रह्मपुत्र की भाषा समझने में इतने वर्ष लगे।" काफी दिनों तक कला साधना के बाद वह इतनी क्षमता प्राप्त कर सका है कि वर्ण्य वस्तुओं के प्रति न्याय कर सके। "पठार की माटी तो निद्रा में भी उसका पीछा करती है और उसके मस्तिष्क पर दस्तक देती है, जैसे पूछ रही हो, मुझे छोड़कर तो नहीं चले जाओगे ?" जहाँ लेखक और वर्ण्य विषय में इतना घनिष्ठ संबंध हो, वहाँ ऐसी ही श्रेष्ठ कलाकृति का सृजन हो सकता है।

ब्रह्मपुत्र में प्रकृति को मनुष्य से अलग करके नहीं देखा गया है। जिस प्रकार नदी के किनारे बसे हुए लोगों का संघर्ष नदी के जीवन से अलग नहीं है, उसी प्रकार नदी का जीवन भी किनारे बसे हुए लोगों के संघर्ष से अलग नहीं है। तभी तो मनुष्य और प्रकृति हाथ में हाथ डालकर चलते हैं—"किसी स्वर्ण कथा के नयनाभिराम नायक के समान सूर्य ने मुँह बाहर निकाला तो देवकान्त ने बाँसों के बीच से झाँककर देखा।" आज जब कि अधिकांश उपन्यासों में शहरों और नगरों का दबा-घुटा परिवेश चित्रित हो रहा है जो धुएँ से काला, डस्टबिन-सा गन्दा, जड़ और निस्पन्द है, तो ऐसे प्रसन्न मोहक प्राकृतिक परिवेश उपन्यास प्रेमियों को निश्चय ही संतोषप्रद प्रतीत होंगे।

ब्रह्मपुत्र में मानवीय आस्था भी पर्याप्त मात्रा में है। जिस प्रकार उसकी भाषा, चरित्रों और दृश्यों में ताजगी है, उसी प्रकार उसका जीवन-दर्शन भी बड़ा ही जीवन्त है। जब ब्रह्मपुत्र के पात्र कहते हैं—"हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने अथवा नारियल या दूध का घड़ा ब्रह्मपुत्र पर चढ़ाकर ही उसका कोप शान्त करने का युग समाप्त हो गया।" तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ये चरित्र अनिवार्य रूप से नवयुग के चरित्र हैं। आधुनिक युग की क्रियाशीलता और संघर्ष इन्हें स्पष्टतः छूते हैं। प्रायः होता यह है कि ऐसे उपन्यासों में, जिनमें प्रकृति का कोई अंचल विशेष मुखरित किया जाता है, मात्र प्रकृति ही प्रकृति रहती है। यदि मानव समाज चित्रित भी होता है तो काफी पिछड़ा हुआ, आधुनिक संवेदनाओं से सर्वथा रिक्त। पर विज्ञान के युग में अब ऐसा अछूता, अप्रभावित अंचल मुश्किल से मिलता है, तो क्या ऐसे अयथार्थ को उपन्यास में चित्रित करना अस्वाभाविक नहीं है? हमें प्रसन्नता है कि सत्यार्थी अपने परिष्कृत कला बोध के साथ आज के विकसित युगबोध का भी सम्यक् परिचय दे सके हैं। जब ब्रह्मपुत्र के पात्र घोषणा करते हुए सामने आते हैं कि "धूर्तता तो लँगड़ी लूली वस्तु है पर सचाई अपने पैरों पर चलती है"—तो हम नवीन आस्था से आप्लावित हो उठते हैं। ब्रह्मपुत्र के पात्र जहाँ एक ओर प्रकृति पुत्र हैं, वहाँ दूसरी ओर बुद्धिशील भी हैं। "आँखों में काजल रेखा, जूड़े में रजनीगन्धा के फूल! बाँसुरी बजती है तो गीत जन्म लेता है। चप्पू से नहीं नाव तो मस्तिष्क से चलती है।"

मानव-जीवन के संबंध में ब्रह्मपुत्र के पात्रों का भाव-बोध बहुत गहरा है। उनकी दृष्टि में "मनुष्य कोई कुकुरमुत्ता तो नहीं क्योंकि वह एक ही रात में नहीं उगता। उसके व्यक्तित्व का विकास क्रमशः होता है" और उपन्यास में भी ऐसा ही हुआ है।

उपन्यास में ब्रह्मपुत्र कई रूपों में चित्रित किया गया है। एक ओर

तो वह गांव के लोगों के लिये वरदान-स्वरूप है, जिसकी मिट्टी में लोट-लोट कर वे बड़े होते हैं, पानी पीकर प्यास बुझाते हैं, दूसरी ओर वह उग्र और भयंकर रूप में चित्रित हुआ है, जब वह पागल हाथी की तरह चिंघाड़ता है। लेकिन ब्रह्मपुत्र के ये दोनों ही रूप जनता के लिये जाने-पहचाने हैं। वे ब्रह्मपुत्र की बाढ़ से तबाह होकर न तो सरकारी अधिकारियों के पास दौड़ लगाते हैं, न रिलीफ की माँग करते हैं। इसके विपरीत उन्हें अपनी कर्मठता पर भरोसा है। वे अपने आप उससे निबट लेना चाहते हैं—"ब्रह्मपुत्र हमें लाख सताये फिर भी वह हमारा मित्र है। उसके साथ हमारा पुराना लेन-देन है, हमारा भुगतान होता रहता है।" यहाँ जिस जनता का चित्र उपस्थित किया गया है, वह कितनी कर्मठ और तेजस्विनी है, यह सहज ही समझा जा सकता है।

ब्रह्मपुत्र की भाषा पर कई प्रकार के मिले-जुले संस्कार हैं, जिसे लेखक स्वीकार करता है। बँगला, असमिया और लोक साहित्य के समवेत रिक्थ का सुन्दर उपयोग किया गया है—"हिन्दी में क्या बँगला, क्या असमिया, हमें सभी भाषाओं का मुहावरा लाना चाहिये। उसकी सुगन्ध, उसकी लोच, उसका रस, इसमें वैसा का वैसा लाने की आवश्यकता है।" इस आवश्यकता को लेखक ने अच्छी तरह अनुभव किया है और इसकी पूर्ति के लिये कलात्मक और मर्यादित प्रयोग हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि सत्यार्थी का लक्ष्य दुहरा है। एक ओर तो वह कथा का नवीन शिल्प ढूँढ़ते और गढ़ते हैं, दूसरी ओर उपन्यास का शिल्प जिस भाषा पर बहुत हद तक निर्भर है, उस भाषा को समृद्ध करने की चेष्टा करते हैं। शिल्प के साथ-साथ विकासमान राष्ट्र की भाषा की क्या क्या माँगें हो सकती हैं, इसे भी लेखक ने समझा है।

ब्रह्मपुत्र में बहुत से सुन्दर नये शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये शब्द एक ओर तो आंचलिकता के कारण आये हैं, दूसरी ओर इनके आगमन का कारण भाषा की बढ़ती हुई आवश्यकता है। इन शब्दों के प्रयोग से लेखक अपनी भाषा की व्यंजकता को बढ़ाने में समर्थ हो सका है। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जो हिन्दी वालों के लिये नितान्त अपरिचित नहीं हैं, पर उनका प्रयोग खूब खुलकर नहीं होता। दन्ताल (दाँत वाला हाथी), मखना (बिना दाँत वाला हाथी) और गोहाली (गोशाला) ऐसे ही शब्द हैं। इसके विपरीत क्वा (चमड़े की नाव) सापरी (छोटे छोटे द्वीप) और लाओ पानी (पेय पदार्थ) ऐसे शब्द हैं, जो हिन्दी के लिये प्रायः अपरिचित हैं।

ब्रह्मपुत्र को काका कालेलकर ने नदी पुत्रों के लोक जीवन का पुराण कहकर उसका सही मूल्यांकन किया है। ब्रह्मपुत्र अपने ढंग का एक अकेला उपन्यास है, जो औपन्यासिक प्रगति का एक मील स्तम्भ है।

वनलक्ष्मी

•

योगेन्द्रनाथ सिनहा विहार के नवीन प्रतिभाशाली कथाकारों में से हैं। इनका कथा-क्षेत्र मुख्य रूप से छोटानागपुर का जंगली और पर्वतीय इलाका है। इनमें आंचलिकता की वह प्रवृत्ति नहीं है, जो रेणु या नागार्जुन में है, लेकिन फिर भी ये अपने अंचल विशेष को अपनी रचनाओं में औचित्य के साथ मुखरित करते हैं। ये छोटानागपुर के वन पर्वतों में रहने वाले हो, उराँव आदि वन जातियों के निश्छल, निर्मल जीवन के मार्मिक चित्रकार हैं। इनकी दृष्टि अधिकतर जीवन के शुभ्र और सानन्द पक्ष पर जाती है। इसका अर्थ यह नहीं लिया जाय कि ये जीवन के कर्दम से भागते हैं। इनका विषय ही ऐसा है, जिसमें दीप्ति और स्फूर्ति अधिक है, जड़ता और तमसा अपेक्षाकृत कम। इनका उपन्यास वनलक्ष्मी इसका सुन्दर उदाहरण है।

श्री सिनहा जंगल-विभाग के उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी रहे हैं। इनके जीवन के अधिकांश वर्ष जंगलों के निरीक्षण और अध्ययन में वीते हैं। उनका कलाकार उनको जंगलों और जंगलों में रहने वाली मानव संस्कृति की ओर आकृष्ट करता रहा है।

लेखक वनलक्ष्मी में कई समस्याओं को उठाते हैं, जिनका उनके विभाग और राष्ट्र की समृद्धि से वड़ा घनिष्ठ संवंध है। आज जब कि लेखकों के सामने राष्ट्र-निर्माण की समस्या महत्त्वपूर्ण है तो यह स्वाभाविक ही है कि वह अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति सजग हो। कलात्मक स्तर का निर्वाह करते हुए भी हम राष्ट्र-निर्माण में अपना बहुमूल्य योग दे सकते हैं। हिन्दी के अनेक लेखक इसके उदाहरण हैं। ऐसे लेखकों की परम्परा प्रेमचन्द से लेकर रेणु, नागार्जुन और योगेन्द्रनाथ सिनहा तक आती है।

वनलक्ष्मी में जो समस्याएँ उपस्थित की गई हैं, वे इस प्रकार हैं:—

(१) जनहित और राष्ट्रहित की दृष्टि से जंगलों का क्या उपयोग हो सकता है?

(२) क्या जंगलों द्वारा हम मात्र काष्ठ ही प्राप्त कर सकते हैं या अन्य वस्तुएँ भी?

(३) काष्ठ व्यापार संबंधी जो योजनाएँ हैं, उन्हें किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय ?

(४) यदि कारखाने स्थापित किये जायं तो उनका क्या रूप हो ? उनमें श्रमिकों की क्या स्थिति हो ?

(५) बहुसंख्यक जनता के लिये भवन-निर्माण-संबंधी योजनाओं में इससे क्या सहायता मिल सकती है ?

(६) किस प्रकार काष्ठ से छड़ और सीमेंट के अभाव को पूरा किया जा सकता है ।

(७) निम्नकोटि के काष्ठ को भी किस प्रकार रासायनिक क्रिया द्वारा अधिक टिकाऊ बनाया जा सकता है ?

इन सभी समस्याओं का वर्त्तमान राष्ट्रीय जीवन से बड़ा घनिष्ठ संबंध है । इनके संबंध में सोचना राष्ट्र-निर्माण के संबंध में सोचना है । प्रत्यक्षतः इन समस्याओं का संबंध सिनहा साहब के विभाग से रहा है और अन्ततः इसका संबंध जन-जीवन और राष्ट्र से है । लेखक ने इन समस्याओं पर काफी निष्ठापूर्वक विचार किया है और उसके सम्यक् समाधान प्रस्तुत किये हैं । शिवदत्त राना लेखक के विचारों और योजनाओं का प्रतिनिधित्व करता है । राना जहाँ एक कुशल कलाकार है, वहाँ सच्चा राष्ट्र और जनहित-चिंतक भी है । राना का चरित्र-गठन बहुत कुछ प्रेमचन्द के पात्रों की परम्परा में हुआ है । उसकी कष्ट-सहिष्णुता होरी की कष्ट-सहिष्णुता की याद दिलाती है । एक जगह तो उसका जीवन हू-ब-हू होरी के जीवन से मिलता है । जब राना के भाई उससे अलग हो जाते हैं और छल-कपट से उसका सब कुछ छीन लेते हैं, तो हमें होरी की याद आ जाती है । होरी की भी यही दशा हुई थी । उसे भी उसके भाइयों ने दगा दिया था । लेकिन सिनहा ने राना के पारिवारिक सुख-दुख पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है । यदि वे ऐसा करते तो राना का जीवन-चित्र और प्रभावशाली हो उठता । यदि वह धनिया और सोना-रूपा की भाँति मनोरमा और उसकी माँ के चरित्र को और उभार सकते तो फिर कहना ही क्या था ?

लेखक ने अपना ध्यान जंगल और जंगल में रहने वालों पर ही केन्द्रित किया है, इसलिए सम्भवतः वह विस्तार में नहीं गये हैं । बुदनी के चरित्र को वे पूर्णतः उभार सकने में सफल हुए हैं । बुदनी के कई रूप हैं—सर्वप्रथम तो उसका लोकबाला का रूप है, जिसमें वह एक अल्हड़ युवती के रूप में सामने आती है । उसके अंग-प्रत्यंग में स्फूर्ति, रस, मादकता और सौन्दर्य है । हँसी

उसके होठों पर बरबस फूटी पड़ती है। इसी वन्य और अकलुष सौन्दर्य पर जेफरन साहब मुग्ध हैं और उसे लुक-छिप कर देखते हैं। उसके बाद बुदनी का वह रूप है जो विलास-वस्तुओं पर लुब्ध है। हाट में घूमने वाली बुदनी की यह पदार्थ-लुब्धता उसके चरित्र को स्वाभाविकता देती है। आईना, टिकुली, रेशमी ब्लाउज, टार्च आदि के लिये उसके मन में अदम्य लालसा है। उसका वह रूप तो भूलने योग्य नहीं जब जेफरन साहब के बूढ़े खानसामा अलीजान की कृपा से उसे एक टार्च बहुत सस्ते में मिल जाता है और वह रात भर उसे जलाती-बुझाती खुश होती रहती है। इसके बाद बुदनी का वह रूप सामने आता है जब वह जेफरन के बाग की मालिन हो जाती है और बंगले में उसका प्रवेश साधिकार हो जाता है। यहाँ पर भी हम बुदनी के चरित्र से असहमत नहीं होते। उसकी शिशुवत् जिज्ञासा और भोलापन, उसके चरित्र-सौन्दर्य को बनाये रखते हैं। बुदनी का वह रूप तो स्मृति से हटने का नहीं जब मिसेज दास ईर्ष्या और क्रोध के वशीभूत उसे गोल कमरे में पीटने लगती हैं और वह प्रतिरोध न कर निरीह बनी रह जाती है। जेफरन के पूछने पर उसका खिल-खिला कर हँसना हमें मुग्ध कर लेता है। इसके बाद तो वह जेफरन की प्रेमिका और पत्नी सब कुछ हो जाती है और उसमें अधिकार, विलास और अहम् का समावेश होता है। लेकिन यह स्थिति कुछ ही दिनों तक रहती है। शीघ्र ही वह शिवदत्त राना से प्रभावित होती है और विलास-वस्तुओं को तिलांजलि दे सात्विक जीवन ग्रहण कर लेती है। अपने को राना की पुत्री मान लेना और राना को झुक कर प्रणाम करना उसके चरित्र में नये मोड़ का सूचक है और यह परिवर्त्तन उस विकास पर जाकर पूर्ण होता है, जब वह जेफरन के विलायत जाने पर सेवा-व्रत अपना लेती है और तपस्विनी-सी आश्रम-वास करती है।

मनसुखदास एक ठेठ धूर्त कर्मचारी है, जिसका लक्ष्य अपने उच्चाधिकारियों को फँसाना और उनकी आँखों में धूल झोंकना है। वह वन्य-जीवन में आकर असंतोष, वैमनस्य और द्रोह की सृष्टि करता है; लेकिन सफल नहीं हो पाता। उसकी योजनाएँ विफल हो जाती हैं और उसे मुँह की खानी पड़ती है। उसकी पत्नी फिरंगी मेम मिसेज दास की मनोवृत्ति भी बहुत कुछ उसी की तरह है और उसे अपनी रूप-सम्पत्ति पर बड़ा गर्व है। वह उस जाल में सबको फाँस लेने का दम्भ पालती है। लेकिन जब बुदनी से उसे हार खानी पड़ती है तो उसका गुस्सा देखने लायक है। जेफरन को फँसाने की उसकी योजना बड़ी जोरदार है और उसकी विफलता मिसेज दास और जेफरन दोनों के चरित्र को अपने-अपने ढंग से चमकाती है।

जेफरन एक आदर्श अंग्रेज है, जिनमें कर्त्तव्य और प्रेम का उचित सामंजस्य है। लेखक ने पात्रों के गठन में बड़ी कलात्मक सूझ-बूझ का परिचय दिया है। जेफरन में एक आदर्श उच्चाधिकारी के सभी गुण हैं। बुदनी के प्रति उनका आकर्षण उनके चरित्र को और अधिक उठाता है। उनमें सौन्दर्य के प्रति निष्ठाभाव है, कामुकता नहीं। वे सौन्दर्य की सरलता पर मुग्ध हैं, तभी तो उन पर मिसेज़ दास के नखरों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मिसेज़ दास उन्हें अपनी जाति का बताकर अपना उल्लू सीधा करना चाहती हैं, लेकिन जेफरन उनके झाँसे में नहीं आते। मनसुखदास की कार्रवाइयों से अवगत होते हुए भी वे उनके प्रति शंकालु नहीं होते। लेकिन जब मिस्टर दास आगे बढ़कर राना को मिटाने पर तुलता है तो जेफरन साहब सत्य, साधना और न्याय का पक्ष लेकर राना की रक्षा करते हैं और दास को कारखाने से अलग करवा देते हैं। जब अंत में वे विलायत लौटने लगते हैं तो बुदनी से भी वहाँ चलने का आग्रह करते हैं, लेकिन बुदनी नहीं मानती; क्योंकि वह तो वन-लक्ष्मी है, वन को छोड़ कर कहाँ जाये? कारखाने के विकास में श्रमिकों के उचित दाय को स्वीकृत करना और अधिकारियों को कहकर प्रत्येक श्रमिक को उचित हिस्सा दिलवाना जेफरन साहब के चरित्र को और ऊपर उठाता है। अब तक हिन्दी-साहित्य में अंग्रेजों को जिस रूप में चित्रित किया गया है, जेफरन उससे भिन्न हैं। राना और वसन्ती का चरित्र एक दूसरे से मिलजुल कर विकसित होता है। कर्मनिष्ठा दोनों में समान है, किन्तु सत्य, शील और संयम की दृष्टि से राना आगे बढ़ जाता है। वसन्ती के असंतोष पर अंकुश रखना राना का ही काम है। वसन्ती के मन में अन्याय के प्रति आक्रोश है; लेकिन राना उस आक्रोश को उबलने नहीं देता। राना के शील-संयम का परिणाम अच्छा होता है और अंत में कारखाने का नामकरण उन्हीं दोनों के नाम के आधार पर शिवदत्त वसन्ती कम्पनी हो जाता है; जिसमें सभी मजदूरों के कुछ-न-कुछ शेयर हैं।

सिनहा साहब के लेखन की विशेषता इस बात में निहित है कि वे कथा और समस्याओं को अलग-अलग नहीं रहने देते, दोनों को गूँथ कर इस प्रकार एक कर देते हैं कि कोई किसी से विच्छिन्न नहीं प्रतीत होता। इसे ही वस्तु और कला का अनुपम सामंजस्य कहते हैं। वनलक्ष्मी प्रथमतः एक सुन्दर और रमणीय कथाकृति है। उसमें उठाई गई समस्याएँ या उनके समाधान का स्थान उसके बाद ही आता है।

●

वन के मन में

•

"वन के मन में" श्री योगेन्द्रनाथ सिनहा का दूसरा आंचलिक उपन्यास है जो सन् १९६२ ई० में प्रकाशित हुआ। पुस्तकाकार छपने के पूर्व यह "धर्मयुग" में धारावाहिक छपा और लोकप्रिय हुआ। उपन्यास की भूमिका में लेखक ने लिखा है "अपनी कहानियों और उपन्यास "वनलक्ष्मी" (यह सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ था।) के द्वारा मैंने वन की आत्मा का सन्देश समाज तक पहुँचाने का प्रयास किया है। प्रस्तुत उपन्यास में (भी) वन के मन को मूर्त्त करने की श्रद्धापूर्ण चेष्टा की है।" इससे लेखक का यह संकल्प प्रकट होता है कि वे वन-जीवन को हिन्दी उपन्यास-साहित्य में मूर्त्त रूप देना चाहते हैं। वास्तव में यह हिन्दी उपन्यास-साहित्य की अभिनव दिशा है, जिसकी ओर लेखकों का ध्यान जाना चाहिए।

वन-जीवन का अर्थ साधारणतः यह समझा जाता है कि जो जीवन वनों के बीच बीते, चाहे यह जीवन वन के मूल आदिवासी का जीवन हो या वहाँ बाहर से गये हुए लोगों का। वन-जीवन सम्बन्धी यह धारणा बहुत पहले से प्रचलित है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी वन-जीवन के जो चित्रण हैं, उनमें परिवेश तो वन का है, लेकिन उस परिवेश में रहने वाले लोग ऋषि-मुनि आदि हैं जो सभ्य समाज की सन्तान हैं और यहीं से जाकर वनों में दीर्घकाल से रहने के अभ्यासी हैं। वन-जीवन का वास्तविक अर्थ कोल, किरात, दस्यु, भीलों आदि का जीवन है, इस ओर तब के साहित्यकारों का भी ध्यान नहीं था। सम्भवतः इन वन-जातियों के जीवन से परिचय न होने के कारण ही वन-जीवन सम्बन्धी यह धारणा बनी।

"वनलक्ष्मी" के लेखक के मन में वन-जीवन सम्बन्धी यही सामान्य धारणा है, इसलिए "वनलक्ष्मी" में कथा का परिवेश तो वन है, लेकिन कथा के अधिकांश पात्र हम आप जैसे लोग हैं, जो इसी सभ्य समाज से चलकर वहाँ पहुँचे हैं और रह रहे हैं—केवल बुदनी, उपन्यास की नायिका ही अपवाद-स्वरूप है। लेखक उसी के माध्यम से वन-जीवन की स्वच्छता, सरलता और निष्कलुषता व्यक्त करना चाहता है। कुछ अन्य पात्र राना आदि पर वनांचल के परिवेश का प्रभाव मात्र है। लेकिन वैसे पात्र साधारण समाज में भी होते

हैं। इसलिए बुदनी के अतिरिक्त वहाँ और जितने चरित्र हैं, वे वन-जीवन की विशेषताओं की वैसी मार्मिक अभिव्यक्ति नहीं कर पाते। वे वन की आत्मा का सही-सही प्रतिनिधित्व नहीं करते। कुछ पात्र तो वहाँ सभ्य-समाज के गुण-दोषों के साथ पहुँचे हैं और सरल वन-जीवन में विक्षोभ उत्पन्न करते हैं। इसलिए यह कहना समीचीन है कि "वनलक्ष्मी" के लेखक ने वन की आत्मा का सन्देश समाज तक पहुँचाने का जो प्रयास किया, उसमें उन्हें आंशिक सफलता मिली। इस दृष्टि से "वन के मन में" में उन्हें अधिक सफलता मिली है, अर्थात् वे अपने उद्देश्य को लेकर और आगे बढ़े हैं।

हर व्यक्ति और समाज का एक प्रकृत परिवेश होता है, जो जन्म के साथ उससे चिपक जाता है और दीर्घ साहचर्य के कारण उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग हो जाता है। बाद के परिवेश-परिवर्तन से उसका चरित्र या दृष्टिकोण परिवर्तित नहीं होता। यही कारण है कि कण्व के आश्रम में पहुँच कर भी राजा दुष्यन्त अपने मनोभावों का परिष्करण नहीं कर सके। वहाँ भी उनका दृष्टिकोण नागर-दृष्टिकोण ही रहता है। ठीक इसी भाँति शकुन्तला भी विवाह के बाद पति-गृह-वास के लिए राजधानी पहुँचती है और परित्यक्त होकर मेनका द्वारा स्वर्ग ले जायी जाती है। लेकिन इन विभिन्न परिवेशों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वह अंत तक भोली-भाली वन-कन्या ही रहती है। शायद इसीलिए कालिदास उसको फिर लौटा कर वन में ले आते हैं। इससे स्पष्ट है कि वन-जीवन की विशेषता हम उन्हीं लोगों के जीवन में देख सकते हैं, जो वन के मूल निवासी हैं या जिन्होंने वन में ही जन्म लिया है और वहीं के हवा-पानी में पालित-पोषित हुए हैं। "वन के मन में" के लेखक का यही दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण वन-जीवन सम्बन्धी सामान्य धारणा में संशोधन के कारण सम्भव हो सका है। इसीलिए "वनलक्ष्मी" की तरह "वन के मन में" नागर पात्र नहीं हैं; जो पात्र हैं, वे विशुद्ध वन-जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं, जैसे लुकनी और मेंजो, जिनकी और कोमचोंग, मोटाय हो और तुरी। ये आदिवासी ही सही मानी में वन-जीवन के प्रतीक हैं, जन्म से लेकर मृत्यु तक वनांचलों में रहने के कारण इनका जीवन वन-जीवन की जीती-जागती तस्वीर है।

"वन के मन में" का एक भी ऐसा पात्र नहीं है, जो वन के बाहर के जीवन का प्रतिनिधित्व करता हो। इसलिए वहाँ नकली सभ्यता और आचार-विचार का प्रवेश नहीं हुआ है। इस दृष्टि से "वन के मन में" और "वनलक्ष्मी" में थोड़ा अन्तर है। "वनलक्ष्मी" में वन-जीवन नागर-सभ्यता के आसंगों में

चित्रित हुआ है, लेकिन "वन के मन में" वन-जीवन का एकान्तिक चित्रण है। इसलिये इस उपन्यास में वन-जीवन की एकरूपता अखंडित रही है। यहाँ पात्रों में न तो हिन्दू हैं और न ईसाई—अफसर, खानसामा और बावर्ची भी नहीं हैं, क्वार्टर और बंगले भी नहीं हैं—केवल झोंपड़ियाँ और उसमें रहने वाले सीधे-सादे जंगली लोग हैं।

वन-जीवन सम्बन्धी धारणा में एक रोमांटिक धारणा का भी समावेश है। जंगलों में रोमांस कम नहीं होता। ऊँचे-ऊँचे वृक्ष, घनी हरीतिमा, सघन लता-वितान, रंग-बिरंगे पुष्प, निर्झर और नाले, नंगी-श्यामल चट्टानें, ये जंगल के भौगोलिक परिवेश हैं। इनके साथ रोमांस अनिवार्य रूप से जुड़ा है। लेकिन वन-जीवन केवल यहीं तक सीमित नहीं है, उसकी अपनी कठिनाइयाँ और अपने संघर्ष भी हैं। संचार साधनों की कमी, खरीद-बिक्री में कठिनाइयाँ ऋतु के प्रकोप, जंगली जानवरों का भय, खाद्य सामग्रियों का अभाव, शादी-ब्याह में लेन-देन की प्रथा, ये सारी बातें भी वन-जीवन के ही अंग हैं। इसलिए वन-जीवन को चित्रित करने का अर्थ उसके रोमांस और कटुता दोनों को चित्रित करना है। यह चित्रण उसी कथाकार से सम्भव है जो वन-जीवन को उसकी सम्पूर्णता में जानता हो और रोमानी और वस्तुवादी दृष्टि का समन्वय करता हो। "वन के मन में" के लेखक ने ऐसा ही किया है। इसलिए इस उपन्यास में जहाँ यह स्पष्ट होता है कि वन में कितना अपार सौन्दर्य है, शान्ति है और निश्चिन्तता है, वहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि यहाँ जीवन-यापन में कितनी कठिनाइयाँ हैं, रहने-सहने में कितनी असुविधाएँ हैं और कितना संघर्ष है। लेकिन यह सब होते हुए भी जीवन का सौन्दर्य और आनन्द इन सब के ऊपर छलकता रहता है। इसी अर्थ में वन-जीवन साधारण सभ्य-जीवन से भिन्न है। कठिनाइयाँ वहाँ भी हैं, लेकिन वहाँ मनुष्य निराश और हताश नहीं है, उसके होंठों पर मुस्कान है और कंठों में गान, पैरों में थिरकन है और कमर में लचक। विषम आर्थिक संघर्ष उन्हें तोड़ नहीं देते और न व्यक्ति-व्यक्ति को अलग करते हैं। उनका सामूहिक-जीवन अब भी अव्याहत भाव से आगे बढ़ रहा है। वन-जीवन की इसी विशेषता के चित्रण से आज के विश्वास-खंडित नागर-पाठकों को परितुष्ट किया जा सकता है।

इधर हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता खूब उभर कर सामने आयी है। इससे एक कठिनाई यह हुई है आंचलिकता के घटाटोप में मानव-मन की शाश्वत भावनाएँ दब-छिप सी गई हैं। कृति में अंचल-विशेष का इतिहास, भूगोल, समाज-शास्त्र आदि तो निरूपित हुए हैं, लेकिन अनछुई और अनदेखी रह गई है मानव-हृदय की शाश्वत धड़कन। इस प्रकार अधिकांश

आंचलिक उपन्यास अंचल विशेष की तस्वीर होकर रह गये हैं, जिनके पीछे से शाश्वत मानव जीवन का प्रतिबिम्ब नहीं उभरता। प्रसन्नता की बात है कि "वन के मन में" में ऐसा नहीं हुआ है। लेखक ने प्रस्तावना में लिखा है—"वन के आदिवासियों के अल्प शाब्दिक कोष के पीछे भी वे ही भावनाएँ हिलोर लेती हैं—प्रेम की, ईर्ष्या की, आदर्श की—जिन पर विश्व का महान साहित्य निर्मित है।" इसलिये मेंजो, लुकना और जिनकी के माध्यम से लेखक ने जो कथा कही है, उससे वे ही भावनाएँ प्रत्यक्ष हुई हैं, जो उच्च कोटि के साहित्य का उपजीव्य ही हैं।

उपन्यास में आदिवासी रीति-रिवाजों और अंध-विश्वासों के बड़े विश्वस्त विवरण मिलते हैं। विवरण की यह प्रामाणिकता रोमांटिक प्रणय-कथा को यथार्थ का पुट देती है। आदिवासी पर्व-त्यौहारों और हाटों-बाटों का बड़ा विश्वस्त विवरण मिलता है। आदिवासी-जीवन की रूढ़ियों के संबंध में भी लेखक का दृष्टिकोण असहिष्णु नहीं है। इसीलिये उन लोगों में अव्याहत भाव से शराब पीने की जो प्रथा है, लेखक उसकी आलोचना नहीं करता, वरन् कहता है—"मर्द पी रहे थे, औरतें पी रही थीं, जवान छोकरियाँ भी, बच्चे भी; लेकिन यहाँ देशी शराब की दूकान का दूषित दृश्य नहीं था, जहाँ समाज के ओछे लोग नशे में लोट पड़ते हैं, वीभत्स गालियाँ देते हैं और आदमी से पशु बन जाते हैं। डियांग सिमबोंगा की देन है, देवता का प्रसाद है और माघे परब का चढ़ावा है। डियांग वह हथौड़ा नहीं है जो मानव मूर्ति को तोड़कर राक्षस रूप बना देता है, बल्कि नहरनीनुमा एक नाजुक रुखानी है जो असुन्दर को चोट के इशारे से सुन्दर बना देती है और गद्य को पद्य में परिणत कर देती है।"

उपन्यास में जंगली जानवरों, नदी-नालों और खोहों के वर्णन भी हैं। किस प्रकार सवाई घास काटते-काटते मजदूर-मजदूरिनें अकबका कर भालू के खोह के पास जा पहुँचती हैं या उन्हें कुंजों के घने अंधेरे में छिपा दन्ताल हाथी दिख जाता है, इसका बड़ा स्वाभाविक वर्णन हुआ है। वास्तव में ये हिंस्र पशु और उनके क्रिया-कलाप भी वन-जीवन के नैसर्गिक अंग हैं। मानवीय क्रिया-कलापों से ये कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। "वन के मन में" हर दृष्टि से एक सफल आंचलिक उपन्यास है। हम इसके आधार पर लेखक से और भी सुन्दर कृतियों की आशा कर सकते हैं।

'उग्रतारा'

'उग्रतारा' हिन्दी का एक ऐसा उपन्यास है, जिसको ध्यान में रख कर कहा जा सकता है कि हिन्दी के लेखक अब दकियानूस नहीं रहे। आज जब कि संसार के देशों को अविकसित, अल्पविकसित और विकसित वर्गों में बांटा जा रहा है तो भारत के बुद्धिजीवी स्वयं ही आगे आकर अपने देश को अल्पविकसित या अविकसित घोषित कर रहे हैं। यह बात आर्थिक विकास को ध्यान में रख कर कही जाय तो एक हद तक ठीक भी है। लेकिन हम अपने बुद्धि-जीवियों को क्या कहें ? उनकी मानसिक गुलामी तो जाने से रही। इसलिये साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, कला सब में वे अपने को अविकसित या अल्पविकसित मानते हैं। अल्प-विकास अर्थात वैसा विकास नहीं, जैसा कि विदेशों में हुआ है, या हो रहा है, बला से आप अपने ढंग से बहुत आगे बढ़ आये हों। ऐसे लोगों को नागार्जुन ने एक चुनौती दी है 'उग्रतारा' लिख कर। हिन्दी का लेखक कितना आगे बढ़कर सोचता है, यह उपन्यास इसका प्रमाण है। जिस समाज में दूसरे की ब्याहता से ब्याह करना पाप और जुर्म है, उस समाज का लेखक दूसरे का गर्भ धारण की हुई स्त्री का विवाह अन्य युवक से करा दे, और वह भी उसे पूरे होश-हवाश में रख कर—क्या इससे भावी समाज का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता ?

नागार्जुन आंचलिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने अपने अन्य उपन्यासों में अंचल विशेष को मुखरित किया है। चरित्रों की असाधारण अवतारणा या असाधारण चरित्रों की अवतारणा भी उन्होंने की है, जैसा 'बाबा बटेसरनाथ' में या 'बलचनमा' में, लेकिन 'उग्रतारा' में उन्होंने जो कुछ किया है, वह अपूर्व है।

कहानी की नायिका उगनी साधारण नारी है। वह कामेश्वर के प्रेम में पड़ कर घर से बाहर निकलती है, लेकिन प्रपंचियों के कारण जेल भेज दी जाती है। छूटने पर और कोई विकल्प न रहने पर वह जेल के सिपाही भभीखन सिंह की पत्नी होने को विवश होती है। वह मन से समर्पिता होने को प्रस्तुत नहीं है क्योंकि कामेश्वर के प्रेम पर उसे अब भी विश्वास है। लाचार बूढ़े सिपाही जी उसे भंग की बर्फी खिला कर अपने वश में करते हैं। इस कौशलपूर्ण बलात्कार के कारण वह गर्भवती होती है। लेकिन इस दशा

तक पहुँच कर भी वह हिम्मत नहीं हारती और न हिम्मत हारता है कामेश्वर। इस प्रकार ये दो चरित्र प्रतीक हो गये हैं समाज की नयी चेतना के। यही कामेश्वर उगनी को चुपके से भगा ले जाता है और नर्मदेश्वर और भाभी की साक्षी में, उनका प्रोत्साहन और सहयोग पाकर, पत्नी बनाता है। कामेश्वर की पत्नी बनकर उगनी भभीखनसिंह को पत्र लिखती है—"सिपाहीजी, आपकी संतान समय पर बाहर आयगी। आषाढ़ में उसका जन्म जरूर होगा। आप रत्ती भर भी चिन्ता न करें। मैं उसको कहीं फेंक नहीं आऊँगी। पाल-पोस कर उसे सयाना बनाऊंगी। मैंने अपना सब कुछ जिसे सौंप दिया था, उसी के साथ गाँव से निकली थी। जिसके साथ गाँव से निकली थी, वही मुझे आपके क्वार्टर से निकाल लाया है। उस आदमी का दिल बहुत बड़ा है। पराये गर्भ को ढोने वाली अपनी प्रेमिका को फिर से बिना किसी हिचक के उसने स्वीकार कर लिया है। वह इतना उदार है कि आपका बच्चा आसानी से आपके पास पहुँचा देगा। मगर मैं वैसा नहीं होने दूँगी सिपाहीजी, बच्चे पर आपका हक बहुत थोड़ा रहेगा, मेरा हक तीन चौथाई से भी अधिक। बड़ा होगा तो मैं खुद ही उसे आपके पास भेजूँगी, अपने पिता से मिल जायगा। आप विश्वास रखें सिपाहीजी, मैं जिन लोगों के बीच रहने आई हूँ, वे बिल्कुल ही नये ढंग के लोग हैं। उनमें से कोई भी मेरे इन विचारों का बुरा नहीं मानेगा।"

देहात की भोली-भाली उगनी यहाँ सहसा ही उग्रतारा हो जाती है। उसका यह चरित्र यथार्थ की समस्त कटुताओं के बीच सहज भाव से उभरता है। उसका पत्र पढ़कर कामेश्वर लपक कर उसे बाँहों में उठा लेता है और चूमकर कहता है—"कितना अच्छा लिखा है तुमने।" नर्मदेश्वर भी उग्रतारा की पीठ ठोक कर कहता है—"वाह, तुमने तो कमाल कर दिया ऊगो!" भाभी भी लपक कर आती है और कहती है—"शाबास।" और इस प्रकार एक बिन्दु पर लाकर लेखक ने सभी पात्रों को उजागर कर दिया है, लेकिन यह कितनी संक्षिप्तता में हुआ!

क्या ऐसे चरित्रों की अवतारणा करने वाले लेखक जो कुछ लिख रहे हैं वह अल्प-विकसित या अविकसित देश का साहित्य है? तो फिर विकसित देश का साहित्य है क्या चीज? पाउन्ड, लारेन्स, इलियट, सार्त्र और कामू का अन्धानुकरण?

नागार्जुन ने 'उग्रतारा' लिखकर आंचलिक उपन्यासों की सीमा समाप्त कर दी है। अब आंचलिक उपन्यास अंचल-विशेष की तस्वीर ही नहीं रहे, वह जीते-जागते समाज का आईना हो गया। अब तक आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता का गाढ़ा रंग रहता था और चरित्र उससे रंग कर वैसे ही लगते

थे, जैसी सिन्दूरपुती महावीर जी की मूर्ति। लेकिन 'उग्रतारा' में मनुष्य का भव्य और महान् रूप, आंचलिकता के कारण मैला नहीं हुआ है और न छिपा है। अचल-विशेष में पलने वाले ये चरित्र भावी मानवता के सच्चे प्रतिनिधि हैं। इस रूप में 'उग्रतारा' में एक छोटे से छिद्र से मनुष्य की गरिमामयी मूर्ति के दर्शन सम्भव हुए हैं।

नागार्जुन राजनीतिक बोध वाले लेखक हैं। लेकिन 'उग्रतारा' में उनका सृष्टा बहुत निष्पृह रहा है। जिस प्रकार अपने अन्य उपन्यासों में वे चरित्र को शुरू से एक विशेष रंग में रंगने लगते हैं, लगता है, वे अपनी वह कला यहाँ भूल गये हैं। उपन्यास पूरा करने पर लगता है, नितान्त सामान्य कृति है यह तो ! लेखक के अन्य उपन्यासों की तरह ही सीधे-सादे लोगों की सीधी-सादी कथा और आंचलिकता का मर्यादित पुट। लेकिन अंत आते न आते छोटे-मोटे वामन चरित्र विराट् रूप धारण कर लेते हैं, पाठकों के मनोकाश में छा से जाते हैं। इसे यदि आप लेखक द्वारा चौंकाया जाना कहें तो कह सकते हैं। लेकिन छोटे लोगों में लुकी-छिपी महानता क्या कभी इसी प्रकार प्रत्यक्ष होकर हमें नहीं चौंकाती ?

इस प्रकार 'उग्रतारा' में नागार्जुन एक सफल कलाकार के रूप में सामने आये हैं—विवेकवान और धैर्यवान कलाकार के रूप में। प्रेमचन्द ने बहुत पहले कहा था—"मैं चाहता हूँ कि आप मनुष्यों की सृष्टि करें, साहसी, ईमानदार, स्वतन्त्रचेता मनुष्य, जान पर खेलने वाले, जोखिम उठाने वाले मनुष्य, ऊँचे आदर्शों वाले मनुष्य। आज इसी की जरूरत है।" नागार्जुन ने 'उग्रतारा' में यही किया है। लेकिन यह कहना अधिक सही है कि यही हुआ है। लेखक ने तो कहीं कुछ नहीं किया है, जो कुछ हुआ है उग्रतारा के द्वारा या कामेश्वर, नर्मदेश्वर और उसकी भाभी द्वारा। यदि नागार्जुन बीच में पड़े होते तो क्या उग्रतारा गर्भवती रह पाती ? सिपाही जी के घर में शीलवती नारी की तरह इतने दिनों तक टिकी होती ?

'उग्रतारा' के चरित्रों का सृष्टा प्रगतिशील लेखक है। इसलिये यहाँ कोई लुका-छिपी नहीं है, कुंठा नहीं है, संकोच या दुराव नहीं है। यथार्थ की कटुता को नये दृष्टिकोण से स्वीकारा गया है। परिस्थितियाँ सदा से ही भभीखनसिंह बन कर सचाई के रास्ते में खड़ी होती रही हैं और हर तीखे और जोरदार प्रयत्न को नाकामयाब कर संतुष्ट होती रही हैं। उगनी पत्नी बनी और अब माँ बनने वाली है। अब इसे कौन छीनेगा ? लेकिन मानवता का अपराजेय युवक हर घेरा तोड़ देता है, वर्जनाओं को रौंद डालता है, यही है 'उग्रतारा' का कथा-विरूप, परिस्थितियों के बीच मानवीय प्रयत्नों के अकथनीय साहस की कथा !

•

मोनोलॉग

शाम और उर्वशी

•

थक गई हूँ, बेहद थक गई हूँ। कोई एक ग्लास जल दे जाये। किसी को बुलाना व्यर्थ है। मेरे मनोरम एकान्त की हत्या न हो। समय मेरा है, बिलकुल मेरा। स्मृतियाँ सामने न आएँ, उन्हें मिटा दूँगी, बस चलेगा तो कुचल दूँगी। देह के पोर-पोर में दर्द है, अजीब, अभूतपूर्व दर्द। लगता है, धीरे-धीरे टूट रही हूँ। टूटने का सुख शायद भवानी मिश्र की कोई कविता है।

दिन भर बँधी रहती हूँ। शाम के सूने क्षण में मन बिखर जाना चाहता है। यह यंत्रणा, पीड़ा! ओ मेरे मन, तुझे कहाँ ले जाऊँ? जूड़े को खोल दो बालों को छितरा जाने दो। उसमें सुगन्ध है, जिसकी भोक्ता मैं हूँ, सिर्फ मैं। फूल अब नहीं लगाती तो क्या हुआ? मन बड़ा व्याकुल होता है। वह लुब्ध शिशु है न? मचलना उसका स्वभाव है।.........अपने को सँवारना प्रिय लगता है। मुझे कोई देखे। ऐसे सन्तोष नहीं होता।

सेक्शन की लड़कियाँ अधिकतर सुन्दर हैं। बोली कितनी मीठी। बालों को फीते और फूलों से सँवारने पर अच्छी लगती हैं। सच ही भूरे बाल बहुत प्रिय और मोहक होते हैं।.........काश! उसे फिर एक बार देख पाती। कामना का क्षण कितना मोहक होता हैं। ......विवाह हुए तीन वर्ष हुए। बच्चे तो हुए ही होंगे। बच्ची होगी तो शीला जैसी होगी।

मन इतना दुःशील क्यों है? इसके लिये संयम का महत्व नहीं क्या? सोचा हुआ अक्सर गलत हो जाता है। बुद्धि पर विश्वास नहीं रहा। यह राह रेगिस्तान को जाता है।

मेरी ज़िद उसे पसन्द थी। क्या मैं वाकई ज़िद में मोहक हो उठती थी। वहाँ ज़िद सर्वघातिनी हुई। यह सब क्यों, कैसे हुआ, समझ नहीं पाती। मनुष्य असहाय है। जिस बात की कोई कल्पना नहीं, वह हो जाती है; जिसके संबंध में हम आश्वस्त रहते हैं, वह खो जाती है। अँधेरा घना हो गया है। बादल घिर आये हैं। मन के बादलों को कौन देखे! तबीयत भरी भरी-सी है। बरस जाने में सुख है। ईश्वर करे मैं रीत जाऊँ। कोई अगस्त्य आये, कामनाओं के सागर को अंजलि में लेकर पी जाये। बड़ा आभार मानूँगी। अहंकार चूर हो गया

है । शिला थी, अब रेत बन गई हूँ । किसी के पाँवों के नीचे ठहर नहीं पाती । रेत के अन्तःकरण को उलीचो, जल मिलेगा । मेरे अन्तःकरण को कौन उलीचे ! देखती, वहाँ क्या है !

प्रयोग में भी सुख है । इसीलिये हम प्रयोग करते हैं । लेकिन मेरे प्रयोग का फल तो एक विराट् शून्य निकला । वह आज व्यंग्य करता है । कुन्तलों का कसाव ढीला हो गया । होठ नीले पड़ गये । सब कुछ बड़ा अनहोना हुआ । पिता कहते थे, मैं उर्वशी हूँ । क्या यह भी व्यंग्य था ! जीवन में एक क्षण आता है । जब अपने प्रति मोह उपजता है । मन पागल हो उठता है । रोओं का संगीत उद्वेलित कर देता है । उद्वेलन का क्षण बड़ा ही उन्मादक होता है । भँवर में जो भी आया घूर्णित हो उठा ।.........उसकी भी यही दशा हुई । हम स्थिर नहीं हो सके । यौवन के आवर्तो उलझते-जूझते चक्कर काटते रहे ।

कल सपना देखा था । सपने भी क्या अजीब होते हैं ! फ्रायड की स्वप्न संबंधी व्याख्या बड़ी उपयुक्त है । आदमी का सपनों पर कोई वश नहीं होता । मेरा वश चले तो मैं अपने को ऐसे उन्मादक सपनों से मुक्त कर लूँ ।......... दो दुर्दान्त दस्युओं को देखकर मैं सिहर उठी थी । उनकी देह गठीली थी । चाँदनी में काली त्वचा चमचम चमक रही थी । खिड़कियों की राह वे कमरे में आये । मुझे एक क्षण निहारा । जगी थी, डर के मारे कुछ बोल न सकी । हाथ-पाँव जमकर बर्फ हो गये । धीरे धीरे भय दूर होता गया । मन में उत्सुकता हुई । क्या ये धन के लिये आये हैं ? लेकिन घर की वस्तुओं के प्रति उदासीन हैं । मुझे उठा ले जायेंगे ? मन को झटका लगा । देखा, उनके हाथों में पाश है । तो क्या मेरी हत्या करेंगे ? या बाँध कर ले जायेंगे ? वे पास आये तो मैं सिहर उठी । लगा कि मेरे हाथ पाँव जकड़े जा रहे हैं । पाश गले में डाल दिया गया । रस्सी जोर से खींची जाने लगी । गला घुटता चला गया । चीखने की शक्ति न रही । दृष्टि के सामने अँधेरा छा गया ।.........पाश धीरे धीरे ढीला हो गया । लेकिन मैं जीवित न थी, मर गई थी । चेहरे पर भय नहीं, आनन्द था । स्यात् मेरे होठों पर हँसी रही हो । वे धीरे धीरे खिड़की की राह बाग में उतर गये, फिर काले काले वृक्षों की पाँत में छिप गये । मन हुआ कि मैं पुकार कर कहूँ, मैं जिन्दा हूँ, मरी नहीं, मारते जाओ ।

सपने की व्याख्या नहीं किया चाहती । कोई घृणित तथ्य हाथ लगेगा । मन अपने आप से बिदक जायेगा । स्वंय को अपवित्र लगने लगूँगी ।.....अपने को नग्न देखने में सुख होता है । यह आदमकद शीशा इसीलिये तो है । एकान्त का सर्पदंश बड़ा विपाक्त होता है । जहर नस-नस में दौड़ता है ।.........व्यक्तित्व

कई टुकड़ों में बँट गया है। टुकड़े एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि कहीं कोई समता नहीं। आफिस आवर की 'मैं' इस क्षण की 'मैं' से कितनी भिन्न है!

आदमी क्या से क्या हो जाता है! नियति की तूली की हल्की-सी प्रेरणा व्यक्तित्व पर दूसरा ही रंग पोत देती है। कभी रंग आकर्षक, मोहक और उन्मादक होता है, कभी अनाकर्षक, बोदा और मटमैला।··· ···कॉफी, चाय कुछ पियो स्वाद ही नहीं।

हम बहुत दिनों के बाद मिले थे। तय हुआ कि कहीं किसी रेस्तराँ में चल कर चाय-वाय पी जाये। हम रायल कैफे के कोने की खाली टेबुल पर जा बैठे थे। बॉय, अजीब बात है कि १८-२० वर्ष के युवक को भी बॉय ही कहा जाता है, दो ग्लास ठंडा पानी रख गया था। प्यास नहीं थी, फिर भी दोनों ने एक साथ ही ग्लास होंठों से लगा लिया था। होंठ ग्लास से लगे थे, पर नज़रें एक दूसरे से गुँथी थीं। लगा कि जल जल नहीं, सुरा है, जिसमें सौरभ और उत्तेजना दोनों हैं। हम आविष्ट हो गये थे। हमें बीच में पड़ने वाली मेज ने भावावेश से उबार लिया। आँखों ही आँखों में एक दूसरे को बड़ी देर तक देखते रहे। पानी और मीठा हुआ·········।

सात बज गये। मिसेज़ सिरीन आयेंगी। स्वागत है। मुझे दो मिनिट आँखें मूँद कर लेटे रहने दीजिये। सब ठीक हो जायगा। यह सब तो चलता ही रहता है। कल का प्रोग्राम 'चॉक आउट' करना है।

रिपोर्ताज

राजधानी के नोट्स

•

बड़ी अघट घटनाएँ घट रही हैं। बिजली-मिस्त्री को तार ठीक करते हुए शॉक लगा, बिचारा लटका रह गया। देखने वालों की घिग्घी बँधी रह गई। क्षण भर के लिए अशोक राजपथ गतिहीन हो गया। चलते-फिरते लोग झटके से स्थिर से हुए, भीड़ में परिणत हो गये। आँखें बिजली के तार से लटके उस मिस्त्री पर गड़ी रहीं। मिनिटों के बाद ही भीड़ छँटने लगी। लोग-बाग अपने रास्ते लगे। सब कुछ नॉरमल हुआ। लगता ही नहीं था कि क्षण भर पूर्व अघट घटना घटी है। एकाध व्यक्ति अब भी ठिठके-ठिठके से लाश को देखते हैं। खबर दे दी गई है, पुलिस आती ही होगी।

बाकरगंज में जवान भिखारिन मोटर के नीचे आ गई। पहिया कमर पर से गुजरा। पल भर छटपटाई, फिर शान्त हो गई। कोलतार से पुती काली सड़क लाल हो गई। मैली साड़ी पर जगह जगह खून के धब्बे हैं। जो सूखकर घिनौने लग रहे हैं। लोग अगल बगल से जा रहे हैं। कोसते हैं, लाश अब तक हटाई क्यों नहीं गई ! शरीर विवस्त्र हो गया है, मक्खियाँ भिनक रही हैं !

पटना मार्केट के सामने बड़ी भीड़ है। पुलिस बार-बार लोगों को पीछे धकेल रही है। यह खूबसूरत एंग्लो इंडियन शायद मेडिकल की है। कार रिचारिया की है। अच्छा ! तो ये माजरा है। तब तो जरूर कोई बात होगी। चपत मार दिया ! उसने जरूर कोई गुस्ताखी की होगी। यह सब चलता ही है। नाटक सड़क पर करने की क्या जरूरत थी ! पास बुला कर कानों में फुसफुसा कर कुछ कहा, तो बुरा क्या हुआ ! किसी ने सुना तो नहीं ! पुलिस चालान क्या खाकर करेगी ! इस कार्य में इतनी मुस्तैदी की क्या आवश्यकता थी ! दोनों अपने रास्ते लगते।

लड़के भी अजीब बदतमीज होते हैं। चोटी बाहर लटक रही थी तो क्या ! हजरत सायकिल पर जा रहे थे, तो अपने रास्ते चले जाते। खींचने की क्या आवश्यकता थी ! गलती उसकी भी क्या है ! बलखाती चोटी बाहर चली गई तो उसका क्या कसूर ? जमाना ही खराब आ गया है। लड़के बेशर्म हो गये हैं। एक न एक एडवेंचर सूझता ही रहता है।

अंजुमन इस्लामिया हॉल में सभा है। एक एम. एल. ए. ने अपने विरोधी कैम्प को जमकर गालियाँ दीं। पीछे से जूता फेंका गया। सभापति को लगा। हो-हल्ला, गाली-गलौच, थूकम-फजीहत खूब हुई। धुला हुआ पजामा गन्दा हो गया। आज से मीटिंग में हर्गिज नहीं जाना है।

पोस्टर से दीवारें गन्दी हैं। ये सभ्य हैं। दरभंगा हाउस पोस्ट ग्रेज्युएट क्लास की ऊपरी छतें तो इनसे भी चार कदम आगे हैं। दीवारों पर चुनी हुई लड़कियों की प्रशस्तियाँ हैं। लड़कों को क्या हो गया है ! लड़कियाँ ऊपर जाती हैं, खिल खिलाकर हँसती हैं, एक दूसरी को चिकोटी काटती हैं। कुछ के चेहरे रूआँसे हैं। हे ईश्वर, यह सब क्या है !

नर्स का बलात्कार हुआ। डाक्टर भी ऐसी बेवकूफी करते हैं। दिल आ गया था। दोस्तों से कहा तो ताने मिले, बेवकूफ, बुजदिल, क्या क्या न कहा गया। सहा नहीं गया। दुस्साहस कर बैठा। वह भी छँटी हुई निकली। बाजाप्ता रिपोर्टिंग हुई। डाक्टर फरार है। लड़का भला था, कैरियर शानदार। शुभचिन्तक अफसोस जाहिर करते हैं। सिर पर कौन-सा जनून चढ़ा कि ऐसा कर बैठा ?

पहली जुलाई से एम. ए. की परीक्षा है। पोस्ट ग्रेज्युएट होस्टल के लड़के परेशान हैं। दो तारीख से घाट पर अखंड कीर्तन हो रहा है। लाउड स्पीकर चौबीसों घंटे बजेगा। होस्टल घाट के निकट ही है। बाबाजी क्यों मानने लगे ? लड़के उन्हें तंग जो करते हैं। उन्हें रोका नहीं जा सकता। धर्म का काम है, कोई खेल नहीं है। जनता उनके साथ है।

अपने आपसे घिन हुआ। हम स्वाद के पीछे कितना भागते हैं। जीवन में स्वाद है कहाँ ? हम उसे ढूढ़ते हैं।

●

कोशी मैया

•

जहाँ तक दृष्टि जाती है, पानी ही पानी है। गाँव के गाँव जलमग्न हो गये। ऊँचे-ऊँचे भीट डुभ-चुभ करते हैं। वृक्षों की शाखाएँ जल में तैरती नजर आती हैं। तना कोशी के गर्भ में विलीन हो गया है। लगता है वृक्ष, वृक्ष न हो, लताएँ हों, जिनकी शाखाएँ नदी की सतह पर फैली हैं। अरहर के लम्बे-चौड़े खेतों का पता नहीं। जहाँ-तहाँ उनकी फुनगियाँ दिखाई पड़ती हैं—धारणा बनती है कि पानी में जंगली घास उग आई है। मछुए नाव लेकर वन घासों को घेर लेते हैं। जहाँ जमीन थोड़ी ऊँची है, वहाँ झुंड के झुंड हिरण दुबके छिपे हैं। मछुए आसानी से पकड़ लेते हैं। उन्मुक्त चौकड़ी भरने वाले प्राणी कितने गतिहीन हैं!

पहली बार जब हिरणों का झुंड सामने लाया गया, तो मन बड़ा ललचाया। उनमें से दो मन को बहुत भाये। नाव पर रखवा लिये। हरी घास सामने डाल दी गई। लेकिन मुँह लगाना तो दूर, उन्होंने घास की ओर देखा तक नहीं। बड़ा अजूबा लगा। देखने गया तो वे टुकुर-टुकुर देखते रहे। आँखों में भावों का समुद्र लहरा रहा था। कितनी निरीह दृष्टि थी! भावों को ठीक-ठीक पढ़ नहीं सका। बड़ी बेचैनी हुई। कोशिश बेकार गई। दिन भर यही हालत रही। रात हम चिंता से भरे हुए सोये। खयाल आया, इन्हें बेकार ले आया। लेकिन वहाँ पानी में रह कर भी क्या ये जीवित रहते? सुबह उनमें से एक चल बसा। मन को झटका लगा। तुरत एक नाव बुलवा कर दूसरे को ऊँची सुरक्षित जगह में छोड़ आने के लिये कहा। मछुओं ने हुक्म की तामील की। लेकिन मन को संतोष नहीं हुआ। दिन भर हिरण की काली काली आँखें याद आती रहीं।

घर अधिकतर फूस के हैं। दीवारें भी फूस और टट्टी की हैं। मिट्टी का लेप देकर कच्ची दीवारों की तरह बना ली गई हैं। घर का ढाँचा बड़े-बड़े लकड़ी के खम्भों पर टिका है। बाढ़ आते ही दीवारें टें बोल गईं। मिट्टी तो मिनिटों में गल गई, फिर फूस की दीवारें भी बह निकलीं। घर का ढाँचा जर्जर कंकालवत् शेष रह गया। डर लगता है। खम्भे कोशी के पेट में हैं,

जल पर छप्पर तैरते हैं। अधिकांश घरों की स्थिति ऐसी ही है। छप्पर ही घर है। सब जगह पानी ही पानी है, जलावन का क्या प्रबन्ध हो? जिनके पास अनाज है, जल में भिगो-भिगो कर खाते हैं। चना है, तो मजा है। गेहूँ भी भिगो कर खाया जा सकता है। चावल भिगो कर खाने से मुंह लेई-लेई हो जाता है। पर खाना तो है ही।

चारों ओर गन्दगी ही गन्दगी है। पुआल सड़ रहे हैं, दुर्गंध के मारे नाक फटी जा रही है। बच्चे, बूढ़े जवान सभी छत के एक कोने से लगकर जल प्रवाह में मलमूत्र निष्कासित करते हैं। गन्दगी इधर-उधर तैरती रहती है। प्रवाह सीधा नहीं है। छप्परों के बीच धाराएं इधर-उधर चक्कर काटती हैं। साँपों, बिच्छुओं और कीड़ों का क्या पूछना! आदमी के आस-पास उनका भी डेरा है। भयानक विषैले जन्तुओं को नहीं छेड़ा जाता, बाकी को बच्चे बूढ़े, जवान छप्पर से झिटक कर प्रवाह में फेंक देते हैं। बेचारा असहाय प्राणी जीवन रक्षा के लिये हाथ पांव पटकता है। कोई आसरा मिल गया तो ठीक, नहीं तो प्रवाह में बहता चला जाता है।

बाढ़ का पाँचवा दिन है। फूस के छप्पर गलते चले जा रहे हैं। पांव सम्हल-सम्हल कर रखना पड़ता है। नीचे बाँस-बत्ती न हो, तो पाँव धँसने, टखनें, घुटने, जांघ में मोच आने का खतरा है। ऐसे निबाह नहीं होने का। छप्पर पानी के रेले में पड़कर बिखर गया। हाहाकार मचा है। महिलाएँ और बच्चे चीखते-चिल्लाते हैं। कठिनाई से नाव आई, उन्हें उतार कर दूसरी जगह ले जाया गया। बसी हुई गृहस्थी उजड़ गई!

दूसरा प्रबन्ध भी है। वृक्ष की शाखाओं को घर बना लिया गया है। मचान बाँध दिये गये हैं। प्रकृति और पुरुष का संघर्ष है। किसी-न-किसी तरह जीना है। एक-दो दिन अच्छा लगा। दुस्साहस भरे जीवन में अजीब आनन्द है। फिर सब कुछ बड़ा असुविधा जनक लगने लगा। मनुष्य अन्ततः सुविधाओं का आकांक्षी है।

पाँच दिन, पाँच रातें नाव पर बीतीं। हम सरो-सामान के साथ चले थे। मसहरी आवश्यक थी। मच्छरों के मारे बुरा हाल है। दिन भर बस्तियों में काम करने के बाद नाव खुलवा दी जाती है। बस्ती से काफी दूर, खुले में जहाँ झाड़-झंखाड़ न हो, लंगर डाले जाते हैं। फिर भी मच्छरों को खबर मिल ही जाती है। जब खुले में यह हालत है, तो गाँवों में, जहाँ गंदगी सड़ रही है, क्या स्थिति होगी! बीमारियों का जोर है। चलती दवाइयाँ बांटी जा रही हैं। बाढ़ के गन्दे पानी से लोगों का रक्त अशुद्ध है,

फोड़े, फुन्सी खूब निकल रहे हैं। लाइफबाय साबुन भी बँट रहा है। लेकिन इससे क्या होगा ? अगल-बगल जो गन्दगी बिखरी है, उसका क्या इलाज है ?

मछली भात खाते-खाते परेशान हैं। दाल साथ ले आये थे, समाप्त हो गई। सब्जी कहाँ से मिले ? मछलियाँ बहुतायत से मिलती हैं। ज़ाल डलवाइये, सेरों आई। एक दो दिन अच्छे ढङ्ग से बनी, फिर महाराज ढिलाई देने लगा। उसने तेल-मसाले की मजबूरी बतलाई। अपने आपसे घिन हुई। बाढ़-पीड़ितों को तो यह भी नसीब नहीं। हम स्वाद के पीछे कितना भागते हैं। जीवन में स्वाद है कहाँ ! हम उसे ढूँढ़ते हैं।

साथ की नावें रिलीफ के सामानों से लदी हैं। हाकिम, किरानी, सिपाही, मछुए सभी हैं। गाँव के लोग नावों से झुंड बाँध कर आते हैं, झोली फैलाते हैं, भर कर चले जाते हैं। विभिन्न पार्टियों के कार्यकर्त्ता भी हैं। इनके मारे नाक में दम है। सभी अपने-अपने गाँव-दियार को सबसे अधिक पीड़ित बताकर रिलीफ वहीं बँटवाना चाहते हैं। प्रत्येक गाँव में एक बखेड़ा होता है। किसी घर से तीन-चार आदमियों ने ले लिया, तो किसी घर में एक को भी नहीं मिला। कर्मचारी क्या करें, किसे पहचानते हैं ? गाँव वाले जो कहते हैं, उस पर भरोसा करें तो काम दूभर हो जाय। गाँव वालों में कोई कांग्रेसी है, जिसकी नज़र खास टोले पर है। प्रजा-समाजवादी उसे स्वार्थी बतलाता है। हाकिम घपले में है। किसी तरह काम निकालना है।

अच्छे खाते-पीते लोग भी बर्तन लेकर पहुँचते हैं। बहती गंगा में हाथ धो लेना बुरा क्या है ! भीड़ धँसी चली आ रही है। सामान है कहाँ, सब खत्म हो गया।

गाँव के महत्‌जनों का निमंत्रण मिला है। हमने अस्वीकार कर दिया है। और साल जितने भी हाकिम आते थे, यहीं ठहरते थे। खाने-पीने का प्रबन्ध ये महत्‌जन ही करते हैं। एक शौकीन रईस हैं। मनचले हाकिम वहीं ठहरते हैं। रिलीफ उन्हीं की मर्जी से बँटता है। आस-पास के गाँव निहाल हो जाते हैं। सरकार का नामोनिशान नहीं। रिलीफ तो बाबू साहब के कारण बँटता है। गाँव वालों की शिकायत है कि और साल यहाँ सात-आठ दिनों तक रिलीफ बँटता था, इस बार सिर्फ दो दिन बँटा। अन्याय है !!

बादलों की शरारत

•

हवा और सूरज में इस बात की बहस चली कि दोनों में कौन बड़ा है।

दोनों अपनी-अपनी किस्मत आजमाने मैदान में उतर पड़े। इसी समय बादलों को शरारत सूझी। वे भी अपने दल-बल के साथ आ पहुँचे। उनकी सघनता में सूर्य का अस्तित्व ही लुप्त हो गया। हवा बहुत गुस्साया—तुम हम दोनों के बीच दखल देने वाले कौन ?

बादलों ने भी उल्टा-सीधा जवाब दिया। बात बढ़ चली। हवा का धक्का लगते ही वे हिमालय से जाकर टकराये और क्षण भर में उनकी हस्ती मिट्टी में मिल गई।

चाँद और मनुष्य

जब मनुष्य ने चाँद के गुण-दोषों की विवेचना शुरू की तो चाँद बहुत बिगड़ा।

"धरती के जीव बड़े गुस्ताख हैं। इन्हें जरा भी तमीज नहीं, बराबर प्रकाश देते रहने पर भी मुझे कलंकी कहने से बाज नहीं आते।" यह सोच चाँद उस दिन बादलों में ही छिपा रहा। आकाश सूना था। तारों को अच्छा मौका मिला, लगे चमकने।

कुछ दिनों के बाद तारों के गुण-दोषों की भी विवेचना होने लगी। इस पर वे भी बिगड़ खड़े हुए।

अब जुगनुओं की बारी थी। मौका पाकर वे भी मैदान में आ डटे।

यह बात चाँद को अच्छी न लगी। और सिंहासन पर जुगनुओं का अधिकार देख वह तिलमिला उठा, झख मार कर उसे बाहर आना पड़ा। तब से वह अपने गुण-दोषों की विवेचना की परवाह नहीं करता और हमें प्रकाश देता आ रहा है।

कवि की जिज्ञासा

—तुम्हारी इस कठिन साधना का उद्देश्य ? कवि ने तपस्वी से पूछा।

—मैं ईश्वर को जानना चाहता हूँ।
—अपने आपको जानते हो ?
—नहीं।
—दुनिया को पहचाना है ?
– नहीं।
—प्रकृति के रहस्यों से परिचित हुए हो ?
—नहीं।
—तो फिर ईश्वर को जानने की जरूरत ?

बिजलियों का अस्तित्व

बादलों भरी अँधेरी रात में पथिक मंजिल की ओर जा रहा था। मार्ग पहाड़ की तलहटियों से होकर गुजरता था। चढ़ाई कठिन थी। रात्रि की समस्त अँधियाली घनीभूत होकर पथ पर छा गई थी। पथिक व्याकुल हो उठा। पथिक की व्याकुलता देख ऊपर बादलों के घूँघट में छिपी विजलियों को दया आ गई। उन्होने अपनी चमक से पथ प्रकाशित कर दिया।

लेकिन बिजलियों की चमक खत्म होते ही अँधियाली ज्यों की त्यों। पथिक झुँझला उठा—"बादलों भरी इस अँधेरी रात में बिजलियों का अस्तित्व ही क्या ?"

बिजलियों ने कड़क कर उत्तर दिया—"हमारा अस्तित्व इसी में है कि हम तुम्हें पथ का संकेत दे दें।"

शबनम की बूँदें

सुबह का समय था। हरी-भरी दूबों पर शबनम की नन्ही-नन्ही बूँदें बड़ी सुन्दर प्रतीत होती थीं। हवा के हल्के-हल्के झोंके अपनी थपकियों से उन्हें दुलरा रहे थे। इसी समय पूरब दिशा से किरणों की एक टोली आ पहुँची। शबनम की नन्ही-नन्ही बूँदें उनके मनचले हृदय को इतनी भाईं कि उन्होंने उन्हें आँचल से ढँक लिया। जगत के लिये तो उन बूँदों का अस्तित्व ही लुप्त हो गया।

पास खड़ा एक गुलाब यह दृश्य देख रहा था। उससे न रहा गया, बोल ही तो उठा—"ओह ! तुम लोग भी बड़ी निष्ठुर हो ! किसी को लूटने में ही तुम्हें आनन्द आता है ?" उत्तर में किरणों ने कहा—"नहीं भाई, ऐसी कोई बात नहीं है। तुम भूल कर रहे हो। ये बूँदें हमें कुछ इतनी प्यारी हैं कि हम उन्हें किसी दूसरे के घर देख नहीं सकतीं। लेकिन इनका रवैया तो देखो, रोज रात हमसे रूठ कर यहाँ चली आती हैं और इसीलिये प्रत्येक सुबह इन्हें ढूढ़ने के लिये हमें पृथ्वी तक आना पड़ता है।"

●

संस्मरण

निराला नहीं रहे

•

निरालाजी का देहान्त क्या हुआ, एक स्वर्णिम अध्याय का पटाक्षेप हो गया। वे स्वाभाविक मौत मरे हैं, ऐसा कुछ लोग सोचते हैं, क्योंकि गत कई वर्षों से वे जिस परिस्थिति और मनोदशा में रह रहे थे, उसमें जीना ही अस्वाभाविक था। यह तो निरालाजी ही थे, कि विष के कडुवे घूंट पीकर नीलकंठ बने जीते रहे।

निराला को उस स्थिति तक पहुँचाने के लिए कौन जिम्मेवार है, इसका लेखा-जोखा कुछ लोगों ने किया है, लेकिन वह बहुत अपूर्ण है। यदि उस खोज को ईमानदारी से और आगे बढ़ाया जाय तो भय है कि कितने ही ऐसे अपराधी निकल आयेंगे, जिनके बारे में लोगों ने अनुमान तक नहीं किया होगा या कुछ ऐसे प्रमाण मिल सकेंगे, जो हमारे मामूली शक को और पुष्ट कर देंगे। तब जिनके अपराध के सम्बन्ध में हम संदिग्ध से हैं, वे निश्चितरूपेण महा-अपराधी प्रमाणित होंगे।

सरकार और जनता का यह पुनीत कर्तव्य है कि ऐसे खूनी भेड़ियों को उनकी मांद में से ढूँढ़ निकालें, क्योंकि जब तक समाज में ऐसे लोग रहेंगे, ये हमारी विशिष्ट प्रतिभाओं को बेधड़क लीलते रहेंगे और अपने खूनी दाँत और नुकीले पंजे लिये सफेद कपड़ों से लैस सभा-भवनों, भाषण-मंचों, प्रबन्ध-कमेटियों, सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं में प्रपंच रचते फिरेंगे।

भारत के राष्ट्रपिता की हत्या नाथूराम गोडसे ने गोली मार कर की। कहा जाता है कि वह बहुत समय से राष्ट्रपिता के चित्र पर गोलियाँ चला कर उनकी हत्या की योजना बना रहा था, लेकिन निरालाजी के सम्बन्ध में तो बिल्कुल उल्टी बात हुई। हत्यारे उनके चित्र पर नहीं, स्वयं उन्हीं पर वर्षों गोलियाँ चलाकर हत्या का अभ्यास करते रहे और एक दिन सच ही उन्होंने उनकी हत्या कर दी। निराला जीवन की सारी चोट सहते रहे, इस आशा में कि दुष्टों की गोलियाँ खत्म हो जायेंगी या उनके हाथ काँपने लगेंगे। लेकिन

लगता है कवि ने मानव मन की धड़कनों को तो बड़ी स्पष्टता से सुना था, पर दानवों के हृदय को भाँपने में असमर्थ रहे।

नाथूराम राष्ट्रपिता को भरी सभा में गोली मारते हुए पकड़ा गया और उसे यथोचित दंड मिला। वह दुस्साहसी था, क्योंकि उसने अकेले यह दुष्कर कार्य किया था। लेकिन निराला जी को मारने वाले तो कायर और बुजदिल थे। उन्होंने तो बाकायदा एक जत्था बनाया और लुक-छिपकर मौके-बे-मौके वार किया। उन्हें शायद पता था कि निराला को आमने-सामने पछाड़ना सरल नहीं है, इसलिये उन्होंने एक व्यूह बनाया और जब जहाँ निराला उन्हें निहत्थे मिले, जा घेरा। उन हत्यारों ने बड़ा योजनाबद्ध काम किया, क्योंकि वे बौद्धिक और प्रतिभा-सम्पन्न प्राणी थे। जनता की दृष्टि में उनका मान था. इसलिये उस ओर से वे पूर्णतः निश्चिन्त थे। निराला सरकार के खैरख्वाह नहीं थे, इसलिये सरकार से भी उन्हें भय नहीं था।

कहा जाता है कि आधुनिक वैज्ञानिक युग में व्यक्ति को मारने के कई तरीके निकल आये हैं। किसी को इलेक्ट्रिक शॉक दे दिया जाता है या मनोवैज्ञानिक रूप से जीने के नाकाबिल कर दिया जाता है या स्लो-प्वायजनिंग का ही सहारा लिया जाता है। इनमें से कोई एक ही उपाय किसी को मारने में निश्चितभावेन सफल है। लेकिन निराला के हत्यारों ने निराला का जीवन देखा था। उन्हें लगा था कि वे एक वार से आहत हो गिरने वाले योद्धा नहीं हैं। इसलिये उन पर सब विधियों का प्रयोग किया गया।

जिस प्रकार विशाल गजराज को फँसाने के लिए पहले सैंकड़ों मजदूर लगाकर कुआँ बनवाया जाता है, फिर बहुत खर्च कर बाड़ा बनता है। तब कुछ जंगली लोगों को ढाल-नगाड़ों के साथ इकट्ठा किया जाता है कि वे शोर मचायें और गजराज को एक विशेष दिशा की ओर बढ़ने के लिये बाध्य कर दें। अंत में जाकर वे गजराज को कूप में गिराने में समर्थ होते हैं और उसे रस्सियों से जकड़ कर बाँध लेते हैं, और कालान्तर में खत्म कर देते हैं। लेकिन ऐसे लोगों के मन में कीर्ति-लालसा भी कम नहीं होती। मृत्यु के बाद भी इनकी बेहयाई दम नहीं लेती। ये गजराज के उजले, चिकने, विशाल दाँतों को लोगों को यह कहते दिखाते फिरते हैं कि यही गजराज की आखिरी निशानी है। और फिर उन दाँतों से पिक्चर-स्टैण्ड, अँगूठी, बटन, कंघी आदि बना लेते हैं और इस प्रकार बची-खुची भव्य स्मृति का भी नितान्त व्यावहारिक उपयोग कर लेते हैं।

निराला के देहावसान के बाद ये पंक्तियां क्षोभ में नहीं लिख रहा हूँ। जब स्वयं निराला का क्षोभ ही व्यर्थ गया तो मेरे जैसे लोगों की क्या गिनती है! लेकिन यदि यह सच है कि अपराधी स्वयं अपने अपराध की यंत्रणा में तिल-तिलकर जलता है तो निराला के हत्यारों की भी यही दशा होगी। मेरा विश्वास है कि निराला को उस स्थिति तक ले जाने में जिनका भी थोड़ा हाथ होगा, वे आज भी दिन-दोपहर, सुबह-शाम अपनी खून-रंगी हथेलियों को बार-बार धोते होंगे, लेकिन जैसा कि मैकबेथ ने अनुभव किया था, सात सागर का जल भी उस खून को नहीं धो सकता।

जीवन की गरिमा और गम्भीरता

•

क्लास लेकर अभी-अभी आया था कि पं० बुद्धिनाथ झा ने कहा—'नलिन जी नहीं रहे।' सुना तो कानों पर विश्वास नहीं हुआ। सोचा, शायद किसी दूसरे के बारे में कह रहे हों, इसलिये तत्काल ही पूछा—'नलिनजी' ? 'हाँ, नलिनजी'—उन्होंने बुझे हुए स्वर में कहा। तब विश्वास करना ही पड़ा।

ज्यों-त्यों कर एक-दो क्लास चले, लेकिन मेरा मन तो कहीं दूर भटक रहा था। बार-बार पटना के कई स्थान आँखों के सामने घूम जाते थे। चाहे वह नलिनजी का अपना बैठक-खाना हो या बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन भवन का विशेष कक्ष या पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग का अध्यक्षीय कमरा ! सब एकदम सूना और श्री-हीन लगता होगा।

अभी नलिनजी की उम्र ही क्या थी ? देखने में निस्सन्देह वह बहुत बुजुर्ग लगते थे। उनके रहन-सहन के ढंग, बातचीत, सौजन्य, सभी वय-प्राप्त लोगों जैसे थे। उनमें उस अवस्था की झलक तो कतई नहीं मिलती थी, जो उनकी वास्तविक अवस्था थी। छियालीस वर्ष की उम्र में ही उन्होंने अपने व्यक्तित्व में एक अतिरिक्त गरिमा समेट ली थी। जिस प्रकार बहुत कम उम्र में उन्हें प्रभूत प्रतिभा, विद्वता और यश का अवदान प्राप्त हुआ, उसी प्रकार थोड़ी ही उम्र में जीवन की कलात्मकता और सौन्दर्य-सुषमा भी हाथ लगी। नलिनजी को देखकर तत्काल बोध होता था कि बड़ी कठिन साधना के बाद जीवन की गरिमा और गम्भीरता उपलब्ध होती है।

नलिनजी की याद आते ही किसी विशाल भूधर के उत्तुङ्ग धवल शृंग का स्मरण हो आता है। वैसा ही अजेय, अडिग और सुस्थिर उनका व्यक्तित्व था। पर साथ ही उनके उस विराट् व्यक्तित्व में जो शुभ्रता, शालीनता और सौजन्य था, वह तो यदा-कदा ही किसी में देखने को मिलता है।

नलिनजी ने बहुत कम लिखा है। उसे देखते हुए उन्हें पर्याप्त यश मिला। उनकी विद्वत्ता, मौलिकता और रचनात्मकता आसेतु-हिमाचल प्रशंसित हुई। अब यह कुछ लोगों की दृष्टि में अस्वाभाविक-सा है। इतना कम लिखकर, इतना अधिक यश अर्जित कर लेना स्पष्टतः अन्याय था, लेकिन यह हुआ कैसे ?

जो भी नलिनजी को जानते हैं, वे कहेंगे कि वे यश के पीछे नहीं भागे। अपने कृतित्व के परिणाम के प्रति यह विरक्ति या तटस्थता ही उन्हें वह मान दे सकी जिससे कुछ लोग ईर्ष्या करते हैं। लेकिन मेरी दृष्टि में इसका एक और कारण है। नलिनजी ने बहुत कम लिखा सही, लेकिन जितना लिखा, उससे कई गुणा ज्यादा पढ़ा और गुना। यही कारण है कि उनका लेखन प्रभावशाली, पांडित्यपूर्ण और गम्भीर हुआ। एक अध्येता व्यक्ति का लेखन जैसा होना चाहिए, वैसा लेखन नलिनजी का था।

नलिनजी की लेखन-संक्षिप्तता पर भी कुछ लोगों ने आपत्ति की है। जैसे, लोगों का कहना है कि वे अधिकतर टिप्पणियाँ लिखते थे। जिस विषय को उठाते थे, उसका विशद प्रतिपादन और पल्लवन नहीं करते थे। उसके कई कारण थे। एक तो नलिनजी की कुछ अपनी विवशताएँ भी थीं। उनका बहुत-सा समय मेल-मुलाकातों, गप्प-शप्प और दोस्तों-शिष्यों के बीच चला जाता था। जो थोड़ा-सा समय मिलता था, उसे वे पढ़ने के लिए रख लेते थे। इसलिए स्वभावतः ही किसी विषय पर पूर्णतः व्यवस्थित ढंग से नहीं लिख पाते थे। दूसरे 'साहित्य' सम्पादक के नाते उन्होंने विचार-पूर्ण और प्रेरक टिप्पणियाँ लिखने की नवीन परिपाटी चलायी थी। इसकी सार्थकता और औचित्य को वे खूब समझते थे। जैसे पाठकों के लिए वे लिखते थे, उनकी ग्रहणशीलता और क्षमता पर उन्हें विश्वास था। इसलिए उनका लेखन संक्षिप्त और संकेतमूलक होता था। उनका पल्लवन और प्रतिपादन तो बाद में होता या सम्भव है यदि अवसर मिलता तो स्वयं नलिनजी ही करते।

नलिनजी की टिप्पणियाँ पढ़ने से लगता है कि अध्ययन और अनुशीलन के क्रम में जब जो विचार-सूत्र उनकी पकड़ में आ जाते थे, वे लिपिबद्ध कर लिये गये। यदि नलिनजी ने इतना भी नहीं किया होता, तो हमें आज और भी पछतावा होता। बहुत से लेखक ऐसे होते हैं जो जमकर लिखना चाहते हैं पर न लिखने का अवसर मिलता है और न लिख पाते हैं। नलिनजी ने अपने जीवन से यह जाना था कि व्यवस्थित लेखन उनके लिए जरा कठिन है। इसलिए उन्हें जब जैसा मौका मिला, वैसा किया।

अब एक ओर तो विचार सूत्रों को इस प्रकार संक्षेप में लिपिबद्ध करना और दूसरी ओर उनके प्रभाव को क्षीण न होने देना, यह नलिनजी के ही वश की बात थी। जिस प्रकार की परिस्थिति में नलिनजी लिखते थे, उस प्रकार की परिस्थिति में सभी नहीं लिख सकते हैं। यदि लिख भी लें तो यह आलोचना न होकर हाशिये पर का रिमार्क होकर रह जायगा। लेकिन यदि हम नलिनजी की टिप्पणियाँ पढ़ेंगे तो पायेंगे कि उनमें एक परिपूर्णता और 'फिनिशिंग टच' भी है। सम्भव है, नलिनजी अपनी भावी जानते रहे हों। तभी तो उन्होंने स्वयं द्वारा चित्रित छोटे-से-छोटे चित्र को भी स्वयं ही पूर्ण कर लिया था, नहीं तो आज उनके चित्रों को 'फिनिशिंग टच' देने वाला कौन है!

नलिनजी राग-विराग से परे नहीं थे। आखिर वे भी एक मनुष्य थे। लेकिन हम सभी लोगों को वे राग-विराग से परे लगते थे। इसका कारण यह था कि साधारण लोगों में राग-विराग के प्रति जैसी आसक्ति देखने में आती है, उसको उन्होंने यत्नपूर्वक कम करना चाहा था। लोगों ने उन्हें क्षुब्ध होते देखा होगा। लेकिन वे अपना क्षोभ पी जाते थे, उसकी प्रतिक्रिया किसी पर नहीं होने देना चाहते थे। जो भी उनके निकट सम्पर्क में आया, उसने उनकी इस विशेषता का अनुभव किया था। एकाध बार ऐसा भी देखा गया कि वे अपने लेखन में किसी व्यक्ति विशेष के प्रति बहुत निर्मम, कटु और कठोर हो गये हैं, लेकिन उस व्यक्ति को सामने पाकर अपने लेखन को भूल जाते थे या भूल जाना चाहते थे।

नलिनजी जिस पर सहाय होते थे, वह तो प्रिय पात्र हो ही जाता था लेकिन जिससे रुष्ट होते थे, उसे भी अपने से बहुत दूर नहीं कर पाते थे। और कई बार तो ऐसा भी होता था कि जिस पर कभी रोष करते थे, मौका आने पर, उस पर अतिरिक्त कृपा करके अपने रोष का प्रायश्चित भी कर लेते थे।

नलिनजी की मृत्यु से हिन्दी साहित्य का बड़ा अहित हुआ। उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह तो उनकी प्रतिभा का एक अंश विशेष ही है। उन्हें तो अभी बहुत कुछ लिखना था। उनकी साधना तो चल ही रही थी। जमकर लिखने की स्थिति तो आने को थी। लेकिन शायद हिन्दी साहित्य की यह परिपाटी ही रही है कि प्रतिभावान लोग हम से ही रुष्ट हो जाते हैं। भारतेन्दु से लेकर नलिन विलोचन शर्मा तक हमें ऐसा ही कटु अनुभव हुआ है।

•

नलिन विलोचन शर्मा

व्यक्तित्व और कृतित्व

•

नलिनजी साहित्य की भूमि पर अपना सुदृढ़ पग-चिह्न अंकित कर चले गये। समय को इतना साहस नहीं कि उस पर तनिक भी धूल डाले या उसे भरने की कोशिश करे। आनेवाली पीढ़ियाँ आश्चर्य से इस सुअंकित सुदृढ़-चिह्न को देखेंगी। और, जैसा कि नयों का स्वभाव होता है, चाहेंगी कि अभाव मिट जाये। इसलिए, सुअंकित पग-चिह्न को अपने पाँवों से नापेंगी, देखेंगी कि उसकी लम्बाई-चौड़ाई और गहराई क्या है, उसे कहाँ तक अपने पग-चिह्नों से पूरा जा सकता है। लेकिन, मेरा विश्वास है कि भावी पीढ़ियों को अपने प्रयत्न में निराशा ही हाथ लगेगी। यदि नलिनजी के व्यक्तित्व विस्तार को ध्यान में रखा गया, तो उनकी गहराई छूट जायेगी और यदि गहराई पर दृष्टि जमाने की कोशिश की गई, तो वह कुछ हद तक नगण्य लगेगी; क्योंकि नलिनजी के व्यक्तित्व में प्रगाढ़ता के स्थान पर प्रसरणशीलता अधिक थी। इसलिए, कुछ लोगों की दृष्टि में नलिनजी के व्यक्तित्व की वही एकमात्र विशेषता थी।

नलिनजी कई संस्थाओं के प्राण थे—चाहे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हो या राष्ट्रभाषा-परिषद् या अखिल भारतीय हिन्दी-शोध-मंडल। इतनी कम वय में अपने व्यक्तित्व को सर्जनशीलता के साथ इतनी अधिक दिशाओं में प्रसारित करना कम ही लोगों के लिए सम्भव होता है। फिर, वे कई पत्रों के सम्पादक भी थे—चाहे वह 'साहित्य' हो, 'दृष्टिकोण' हो या 'कविता'। सभी पर प्रमुखता के साथ उन्हीं का व्यक्तित्व छाया रहता था। नलिनजी ने जिस पत्र का भी सम्पादन किया, उसे अपने व्यक्तित्व के अनुरूप ही एक विशिष्ट व्यक्तित्व दे दिया। इस क्रम में उनका नाम हिन्दी के इने-गिने सम्पादकों में लिया जा सकता है। वे एक साथ ही हमारे लिए शिवपूजन सहाय और अज्ञेय थे।

संस्थाओं और पत्रों से अलग हटकर देखने पर भी नलिनजी के कई रूप सामने आते हैं। उन्होंने 'दृष्टिकोण' और 'साहित्य का इतिहास-दर्शन'

जैसी प्रौढ़ आलोचनात्मक कृतियाँ दीं, 'विष के दाँत' जैसी नवीन भंगिमा की कहानियाँ लिखीं और 'नकेन' के रूप में एक विशिष्ट काव्य-संकलन प्रस्तुत किया। अपने कृतित्व को लेकर वे नितान्त आधुनिकों में सहज ही परिगणनीय हैं। इस प्रकार का उनका कृतित्व बहुत थोड़ा है, पर वह प्रभाव और गुण की दृष्टि से अतीव संतोषजनक है।

यदि नलिनजी की कृतियों को कोई अहम्मन्य आलोचक नकार भी दे, तो उनकी मूलभूत स्थापनाओं को, जो सुदृढ़ आधार पर प्रस्तुत हैं, चलता नहीं कर सकता। यदि उनकी कविताएँ बाद भी कर दी जायें, तो प्रपद्यवाद या नकेनवाद के रूप में उन्होंने जो वाद चलाया है, उसे झुठला नहीं सकते। यह सच है कि उनकी जैसी कहानियाँ लिखनेवाले और लोग भी हैं, पर कहानी के सम्बन्ध में उन जैसे सुलझे विचार रखनेवाले बहुत कम हैं। कहने का अर्थ यह कि नलिनजी के व्यक्तित्व और कृतित्व और छाया इतनी विस्तृत और सघन है कि हिन्दी-साहित्य के सम्पर्क में रहनेवाला कोई भी व्यक्ति उन्हें नज़र-अदाज़ नहीं कर सकता। और, यदि आदमी एकदम दुराग्रही हो जाये, तो कृतित्व को भले ही उपेक्षित कर ले, जीवन को तो भूल ही नहीं सकता। वह सौम्यता, सज्जनता और शालीनता दुर्लभ है।

नलिनजी क्लासिक और रोमांटिक साथ-साथ थे। लोग जानते हैं कि उन्होंने 'पाटल' में 'विव्वो का विव्वोक' लिखा। कितना चौंकानेवाला था नलिनजी का वह अत्याधुनिक रूप। नये लेखकों में जो आक्रामक स्वभाव होता है, वह नलिनजी में भी था—चाहे वे कहानी लिखें या कविता। समय-समय चेष्टा करते थे कि पाठक उनका लोहा मान लें। ऐसे स्थलों पर हमें नलिनजी से झुँझलाहट होती थी, हम खीझते थे। लेकिन, कोई चारा नहीं रहता था। हम उनका लोहा मानने के लिए विवश थे। लेकिन, इसके विपरीत नलिनजी के लेखन में वह भाव भी है, जो एक सूत्रधार का होता है। सूत्रधार मंच पर आता है और कृतित्व का परिचय देता है। कभी चेष्टा नहीं करता है अपने-आपको दर्शकों पर लादने की। उसकी उँगली कलाकृति की ओर ही रहती है, चाहता है जल्दी-से-जल्दी कृतित्व का परिचय दूँ और मंच से खिसक जाऊँ। वह कृति और दर्शक के बीच व्यवधान नहीं बनना चाहता। लेकिन, दर्शकों को क्या कहा जाय कि नाटक देखने के बाद वे नाटक के व्याख्याता सूत्रधार को भूल नहीं पाते। सोचते हैं, यदि सूत्रधार का प्रारम्भिक वक्तव्य नहीं होता, तो पता नहीं, कृति का कितना सौन्दर्य आवृत रह जाता। सूत्रधार के परिचय देने का ढंग, बोलने की अदा, कला-संघटन का विश्लेषण और तार्किक अन्विति-सब कुछ तो अप्रतिम थे।

नलिनजी अपनी कुछ आलोचनाओं में ऐसे ही सूत्रधार की भाँति उपस्थित हुए हैं। उन्होंने विषय को प्रस्तुत कर, उसका विश्लेषण कर खिसक जाना चाहा, लेकिन पाठक है कि उन्हें भूलता नहीं।

इन सबसे भिन्न कोटि का व्यक्तित्व नलिनजी का वह है, जो कुछ विशिष्ट ग्रन्थों के सम्पादन-क्रम में सामने आया है। 'प्रतिनिधि कथाकार', 'प्रतिनिधि एकांकीकार' और 'सदलमिश्र-ग्रन्थावली' तो फिर भी अधिक सुपुष्ट सुसम्पादित ग्रन्थ हैं। सम्पादन और सामग्री दोनों ही दृष्टियों से वे पाठकों के लिए सन्तोषजनक हैं। सम्पादित संकलन के सम्बन्ध में जो सामान्य धारणा है, वे उसके अनुकूल भी हैं और उसमें कुछ नवीनताएँ भी हैं।

लेकिन, इनसे भिन्न उनके सम्पादक का वह रूप हैं, जो 'लोक-साहित्य; आकर-साहित्य-सूची', 'लोककथा-कोश' 'लोकगाथा-परिचय', प्रभृति पुस्तिकाओं का सम्पादन करते हुए सामने आया है। नलिनजी का यह काम बड़ा नगण्य-सा है या मात्र द्रव्य-प्राप्ति के लिए किया गया है, ऐसा कुछ लोग सोचते हैं। लेकिन, ऐसा सोचकर हम नलिनजी के प्रयत्नों के प्रति अन्याय करेंगे। इन कार्यों का महत्व हम तब समझ सकेंगे, जब इसी विषय पर शोध करनेवाले किसी शोधकर्त्ता से इन पुस्तिकाओं की उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहेंगे। यह तो लोग जानते ही हैं कि नलिनजी विगत कई वर्षों से अपने निर्देशन में कई शोध-कार्य करा रहे थे। इस क्रम में उन्होंने शोध करनेवालों की कठिनाइयों का प्रत्यक्ष अनुभव किया था और उसका निराकरण करना चाहते थे। होता यह है कि कोई महत्त्वाकांक्षी लेखक विद्यार्थियों की कठिनाइयों पर ध्यान नहीं देता। उसकी कठिनाइयों को दूर करने के लिए वह कुछ करे, उसे यह अपने समय का अपव्यय और व्यक्तित्व का अपमान मालूम होता है। वह तो विशेष कार्य करने के लिए ही उत्सुक होता है। लेकिन, नलिनजी इस दृष्टि से नहीं सोचते थे। वे जहाँ विशाल राजपथ के निर्माण के लिए योजनाबद्ध तरीके से काम करना चाहते थे, वहाँ अपनी शक्ति के अनुसार पगडंडियों का निर्माण करना भी जानते थे। छोटी-से-छोटी बात की ओर उनका ध्यान था, यह इन कार्यों से स्पष्ट होता है।

नलिनजी के व्यक्तित्व में परस्पर-विरोधिनी बातें सम्भव हुई थीं, ऐसा सभी जानते हैं। सम्पादन के सभी प्रकार के कार्यों में नलिनजी की स्वाभाविक रुचि थी। ऐसा नहीं था कि वे 'प्रतिनिधि कथाकार' और 'प्रतिनिधि एकांकीकार' का सम्पादन तो खुशी-खुशी करते थे और 'सदलमिश्र-ग्रन्थावली' या 'आकर-साहित्य-सूची' का सम्पादन झख मारकर। इस दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि नलिनजी का व्यक्तित्व वैज्ञानिक था।

नलिनजी ने अपने व्यक्तित्व को इस ढंग से सँवारा था कि वह नवीन और प्राचीन के बीच एक सबल सेतु बन गये थे और, जैसा कि अज्ञेय ने अपनी एक कविता में कहा है :

मैं सेतु हूँ
जो है और जो होगा, दोनों को मिलाता हूँ
मैं यहाँ हूँ, पर सेतु हूँ
इसलिए, दूर दूर दूर मैं वहाँ हूँ

ऐसा ही व्यापक दूर-दूर तक फैलनेवाला और छानेवाला नलिनजी का व्यक्तित्व था ।

साहित्य-साधक शिवजी

•

आचार्य शिवपूजन सहाय का निधन आकस्मिक होकर भी अस्वाभाविक नहीं है। वे उस अवस्था को प्राप्त कर चुके थे जब कि मृत्यु किसी भी क्षण आकर दरवाजा खटखटा सकती है और यह अस्वाभाविक नहीं माना जाता है। वैसे भी उनका जीवन संघर्ष-जर्जर था। एक पूरे युग तक उन्होंने अपने को हिन्दी-साहित्य और पत्रकारिता के विकास और उत्थान के लिए मिटाया और खपाया। इस दृष्टि से यह कहना बिल्कुल सही है कि उनका जीवन बहुत सुख-सुविधा का जीवन नहीं था। वे भी प्रेमचन्द की तरह सच्चे मानी में कलम के सिपाही थे। जीवन के द्रुत और जटिल संघर्ष को उन्होंने लेखनी के बल झेला। इस क्रम में कई बार मौत के मुँह में भी जा पड़े—कुछ तो अनवरत परिश्रम करते रहने के कारण और कुछ दुर्बल स्वास्थ्य के चलते। लेकिन वे हर बार मृत्य के समीप जाकर, उसका आंशिक साक्षात्कार करके भी, हमारे बीच लौट आये—कुछ तो अपनी अदम्य जिजीविषा के कारण और कुछ हमारे स्नेह और सद्भाव के चलते। इसलिए हमें कुछ ऐसा बोध हो चला था कि वे अभी हमारे बीच कुछ दिन और रहेंगे और कुछ और काम करेंगे। सम्भवतः उन्होंने भी ऐसा ही सोचकर बिहार के साहित्यिक इतिहास लेखन की योजना में हाथ लगाया था। हम भी अपेक्षा करते थे कि यह काम उन्हीं के हाथों पूरा होगा। लेकिन इस रौ में हम यह भूल चले थे कि यह युग ही अल्पजीवियों का है। जिस देश में मनुष्य की औसत आयु पचास के लगभग हो, वहाँ उससे अधिक जी लेना पर्याप्त है। और फिर स्वतंत्रपेशा साहित्यकार के लिए, जिसका जीवन सदा-सर्वदा संघर्षों और अभावों का जीवन होता है, इससे अधिक दीर्घ जीवन की अपेक्षा नहीं की जा सकती—वैसे अपवाद तो सब जगह होते हैं। इसलिये आचार्य-श्री के निधन को अस्वाभाविक मानकर कुछ सोचना या करना अनुचित होगा। हाँ, उसे दुखद, हानिकारक और मर्मघातक कहना सर्वथा उचित है।

यदि यह सच है कि व्यक्ति अपने पद से नहीं, अपितु अपनी क्रियाशीलता के कारण जीवित और जवान समझा जाता है तो आचार्य जी हमारे

बीच अभी कितने ही वर्षों तक रहने और काम करने के योग्य थे। उनकी सृजनशीलता का स्त्रोत तो कभी सूखा ही नहीं। हाँ, राष्ट्र-भाषा-परिषद् के प्रधान हो जाने पर प्रशासकीय कार्यों में व्यस्त रहने से लिखना-पढ़ना कुछ कम हो गया था। लेकिन जब वे राजकीय सेवा-भार से मुक्त हुए, तब से द्विगुणित उत्साह के साथ साहित्य-सेवा के कार्य में आ जुटे थे। इधर के लिखे उनके लेख और संस्मरण इस बात के प्रमाण हैं। फिर उन्होंने बिहार के सम्पूर्ण साहित्यिक इतिहास को लिखने का बीड़ा उठाया था। इसके साथ ही और भी बीसियों काम वे करते रहते थे। 'साहित्य' के सफल सम्पादन से लेकर नये-पुराने लेखकों की रचनाओं का संशोधन-सम्पादन तक। इस रूप में आचार्य शिवजी क्रियाशीलता के एक अक्षय स्रोत थे।

आचार्यजी नयी पीढ़ी के साहित्यकारों के बीच अनुभव और विवेक की जलती मशाल लेकर चलने वाले पुरानी पीढ़ी के एकमेव समर्थ साहित्यकार थे। इस रूप में उन्हें नयों और पुरानों के बीच समान मान्यता प्राप्त थी। उनकी मानवीयता और आत्मीयता इतनी अटूट थी कि कोई भी उनके निकट सम्पर्क में आकर उनसे बच नहीं सकता था पोपले मुँह में पान को पछाड़े हुए उनकी यह मूर्ति मन से हटाये नहीं हटती है।

आज जब कि पुरानी पीढ़ी के लोग अपनी प्रतिभा और महत्ता की सार्थकता इस रूप में मानते हैं कि वे या तो नयों के उद्वेग पर अंकुश रखें या उन्हें उपदेश दें, या राह सुझायें या यदि सम्भव हो तो येनकेन प्रकारेण उन्हें गलत नेतृत्व देने की चेष्टा करें, आचार्यजी का स्मरण आना स्वाभाविक है। उनमें नयों के अनुमोदन का भाव इतना प्रबल था कि इसके सामने और कुछ टिकता ही नहीं था। यह तो सभी जानते हैं कि निराला जैसी प्रतिभा को सजाने सँवारने में आचार्य के स्नेह का कुछ कम हाथ नहीं था। लेकिन उनका यह भाव जीवन के अन्त तक ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण था। इसलिए जहाँ उनके समय के अन्य साहित्यकारों के समक्ष जाने में नयों को कुछ न कुछ 'असुखद' लगता था, वहाँ उनके समीप जाकर उनसे बातें करने में परम प्रसन्नता की अनुभूति होती थी।

आचार्यजी के जीवन का एक बड़ा हिस्सा यद्यपि छायावादयुगीन परिस्थितियों के बीच फला-फूला तथापि उनके संस्कारों का छोर द्विवेदी-युग तक पहुँचा हुआ था। डा. श्यामनंदन किशोर ने लिखा है—'द्विवेदी युग की निष्ठा और आदर्शवादिता, छायावाद काल की भावुकता और करुणार्द्रता प्रगतिवाद काल की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि और आधुनिक काल की नवोन्मेष-

कारिणी प्रतिभा सब कुछ उनमें थी लेकिन उनमें दो ऐसे गुण विरासत के रूप में मिले थे जिनका आज के किसी साहित्यिक में उतनी मात्रा में मिल सकना कठिन है। वे गुण हैं भक्तिकालीन आध्यात्मिकता और भारतेन्दुकालीन सरसता। इसीलिए वे निराला और उग्र के हमजोली होकर भी उनसे भिन्न थे। फिर उनकी यह भी सिफ्त रही कि साहित्यिक दृष्टि को उन्होंने विकसित करके अधुनातन बनाने की चेष्टा की। तभी तो वे उस काल में, जब कि प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' और 'कायाकल्प' की रचना कर रहे थे, 'देहाती-दुनिया' जैसे आंचलिक उपन्यास का सृजन कर सके जो उस समय की औपन्यासिक धारणाओं को देखते हुए अपूर्व और क्रांतिकारिणी थी। इस रूप में शिवजी का महत्त्व हिन्दी-साहित्य में सदा ही अक्षुण्ण रहेगा। उनका कृतित्व व्यवस्थित और परिमाणमूलक नहीं है लेकिन वह गुणमूलक तो है ही—और है उसमें एक रमणीय विविधता। उनके दीर्घ जीवन के कर्म-संकुल-पट पर उनकी रचनाएँ बेल-बूटों की तरह यहाँ-वहाँ उगी-उभरी है। इस रूप में उनका महत्त्व तो है लेकिन वे रचयिता के जीवन को भी शोभा-मंडित करती हैं। हम उनकी रचनाओं को अधिकाधिक पढ़ें और गुनें—यह कामना स्वाभाविक ही है।

काव्य-नाटक

भूली भटकी आवाज़ें

•

(गम्भीर व्यथा-सूचक ध्वनि, हाँफने की आवाजें..........)

आवाज १. मौत, काली मौत !
टूटती ही जा रही है साँस
चुभ रही लेकर जहर दिन-रात
मृत्यु की यह गाँस !
और यह फन्दा सितम का झूलता दिन रात।
जिन्दगी पर यह करारी चोट, यह आघात।

आवाज २. जिन्दगी पर मौत की छाया मलिन
रात-दिन मँडरा रही !

आवाज १. यह करुण आवाज कैसी आ रही ?
कौन ?........है कोई नहीं खामोश।
हो रहा सब कुछ यहाँ बेहोश।

आवाज २. सरकती आती सतह पर मौत
मौत जिसको देखकर रहता न कुछ भी होश।
आ रही है वह तुम्हारे पास
छीन लेने जिन्दगी के स्वप्न
रुद्ध करने साँस का संगीत।

आवाज १. किन्तु हो तुम कौन ?
क्यों न आते पास ?
क्या न तुझ को बाँध पाते
ये तरल पिघले हुए उच्छ्वास ?

आवाज २. है न ज्यादा वक्त
आ नहीं सकता तुम्हारे पास।
आ रही है मौत
घोट जो देगी गला तेरा
किन्तु कुछ कर्त्तव्य है मेरा

आवाज ३. कह रहा हूँ बंधु हो जा कस कमर तैयार
जगा मन की शक्तियाँ, संघर्ष कर स्वीकार
इस तरह सिसकने रोने से न होगा काम
बड़ी ही मनहूस है यह जिन्दगी की शाम

आवाज १. बंधु सच कहते बड़ी मनहूस है यह शाम
जिन्दगी अकुला रही इसके अंधेरे में
हृदय के सब स्वप्न
छटपटा कर मर गये, जो भी बचे हैं शेष
रो रहे इस तरह जैसे पशु घेरे में

आवाज २. इसलिए ही कह रहा हूं करो कुछ प्रतिकार
सामने जब उमड़ता हो व्यथा-पारावार
तो नहीं है उचित तट पर बैठना असहाय
आदमी होता नहीं है कभी भी निरुपाय

आवाज १. आदमी ?
कौन कहता है कि मैं हूं आदमी ?
आदमी है वह कि जिसकी देह में
मांस हो, हो रक्त की कुछ उष्णता
जो कि मौके पर बने फ़ौलाद भी
ले सके टक्कर नियति से, काल से

आवाज ३. बहुत अच्छे मित्र
बात जो तुमने कही है, वह बहुत ही ठीक
मगर उससे भी बड़ी जो चीज़
उसे हम कहते हृदय की आस्था
अगर वह हो तभी हिम्मत रक्त सब कुछ काम देता है
आस्था के जोर पर ही आदमी
कष्ट के तूफान में
ज़िन्दगी की झाँझरी-सी नाव खेता है

आवाज १. किन्तु हो तुम कौन ?
सिर्फ इतना ही बता दो बन्धु,
ज़िन्दगी की आखिरी यह साँस
स्नेह बस इतना जता दो बंधु,
और फिर तुम कह रहे हो मौत से लड़ने

आदमी होकर मुझे यमराज पर चढ़ने
मैं नहीं अब सह सकूँगा जिन्दगी की चोट
तुम कहो जा मौत से वह दे तुरत दम घोट

आवाज ३. वहुत भावुक हो उठे हो मित्र !
झींकने से नहीं कोई काम होता है।
सामने जब समस्याएँ खड़ी हों दो-चार
तब न भावुक बनो, इसकी है न कुछ दरकार।
जो सिसकता, देख उसको हँसी आती है।

आवाज १. हँसी आती है ?
ठीक कहते हो सभी को हँसी आती है।
इसलिए तो चाहता हूँ शेष हो जाऊँ
आज हूँ कल के लिए अवशेष हो जाऊँ।
जिन्दगी में जब नहीं हो स्वाद कुछ बाकी
तब भली है मृत्यु वह आराम देती है।
दर्द के निर्मम शिकंजों से हमें वह छीन लेती है।

आवाज २. बंधु, हम भी मौत से पहले
सोचते थे यही।
किन्तु अब हम देखते हैं बात वैसी नहीं।
सोचते थे हम कि मर कर मुक्त होंगे।
छोड़कर यह जिन्दगी आगे बढ़ेंगे।

आवाज ३. किन्तु यह थी भूल
हम न हो पाये कभी आज़ाद।
मौत भी पाई नहीं कर मुक्त
जिन्दगी अब हो गई बरबाद।

आवाज २. और यदि तुम भी मरे उस भाँति
तो न मर कर भी कभी हो मुक्त पाओगे।
जिस तरह हम लोग युग-युग से बंधे।
छटपटाते बंधु, वैसे छटपटाओगे।

आवाज ४. चैन पाओगे न मर कर भी।
यह घुटन, यह बेवसी सब दिन
घोटती ही रहेगी तेरा गला।
चाहते हो बंधु यदि अपना भला।

तो लड़ो इस मौत से तब तक
जब तलक टूटे नहीं यह वज्र की दीवार।

आवाज ५. हो न यदि इस बात का विश्वास
तो मरो आओ हमारे पास
और फिर भोगो युगों तक कष्ट
हो गई है बुद्धि ही जब भ्रष्ट
तब कहें क्या तुम हमारी ही तरह छटपटाओगे।
रोज़ अपनी भूल पर आँसू बहाओगे।

आवाज १. किन्तु कैसे तोड़ पाऊँगा कठिन दीवार ?
मैं अकेला हूँ न कोई साथ
हैं बँधे जंजीर से ये हाथ
फिर कहो कैसे करूँ संघर्ष यह स्वीकार ?

संयुक्त स्वर साथ हैं हम सब तुम्हारे
तोड़ देगें बंध सारे
पास में जो शक्ति उसका कर प्रशस्त प्रसार।
तोड़ दें दीवार।

आवाज २. फिर नया विश्वास लेकर
तेज़ कर निज कंठ का स्वर
तोड़ दे यह मृत्यु की जंजीर, कर हुंकार।
काँपती दीवार !

आवाज ३. और थोड़ा ज़ोर
नींव को झकझोर
हो रहा है ज़िन्दगी का आज जीर्णोद्धार !

आवाज ४. हो रहा है ज़िन्दगी का आज जीर्णोद्धार।
टूटने को हैं सभी बंधन, सभी दीवार।
आज जग कर खोलती है ज़िन्दगी आँखें।
लाँघने को व्यग्र अम्बर विहग की पाँखें।
जग रहे अंगड़ाइयाँ लेकर प्रसुप्त विचार।
हो रहा है ज़िन्दगी का जीर्णोद्धार।

(समापन संगीत........)

संगीत-रूपक

मधु पर्व

•

वाद्य संगीत............

दूरागत समवेत स्वर—फागुन के दिन आये।

दूर कहीं वंशी की धुन सुन कर जियरा लहराये।
फागुन के दिन आये।
झूम रही है पत्ती-पत्ती होकर भाव-विभोर।
झांक रहा छुप-छुप कर कुंजों से कोई चितचोर।
आज धरा की सोई पलकों पर सपना मंडराये।
फागुन के दिन आये।
झूम रहा है सुध-बुध खोकर यह चंचल वातास।
कंठ-कंठ में जगी अचानक आज रूप की प्यास।
आज सभी के मन पर अलमस्ती के बादल छाये।
फागुन के दिन आये।
डाल-डाल पर लदी हुई हैं मंजरियाँ सुकुमार।
थिरक रहा इनके होठों पर मन का प्यार-दुलार।
यह रसभीनी गंध कि जिससे वन-उपवन बौराये।
फागुन के दिन आये।

युवा नारी स्वर—मैं उपवन की रानी।

मेरा घर आँगन है सुन्दर।
है वह सब लोकों से बढ़कर।
सदा सुनाती रहती जग को मैं अमृतमय वाणी।
मैं उपवन की रानी।
मैं सबका दिल बहलाती हूँ।
घाव सभी के सहलाती हूँ।
थिरक रही मेरे होठों पर गीती-प्रीति कल्याणी।
मैं उपवन की रानी।
मैं गाती, जीवन मुस्काता।

मुझ पर सौ सौ गान लुटाता ।
छलक रहा है मेरी आँखों से करुणा का पानी ।
मैं उपवन की रानी ।

दूरागत पग ध्वनि............

युवा नारी स्वर—तुम कौन ?
प्रौढ़ नारी स्वर—जानती नहीं मुझे ? मैं धरती
मैं जग का रीता कोष हमेशा भरती ।
आई हूँ अपने बच्चों को दुलराने ।
उनके सुर में सुर मिला गीत नव गाने ।
मैं जग के लोगों की पीड़ाएँ हरती ।
मैं धरती ।
मेरे घर में वह अक्षय कोष भरा है ।
पाकर जिसको सारा जग हरा-भरा है ।
मैं एक भाव से प्यार सभी को करती ।
मैं धरती ।
युवा नारी स्वर—नमन करो स्वीकार !
तेरी छाया में पलकर मैं बड़ी हुई ।
प्रौढ़ नारी स्वर—लो प्यार !
युवा नारी स्वर—नमन करो स्वीकार ।
सोचा करती थी अक्सर माँ हम लोगों की कौन ?
लेकिन उत्तर मिला न, रहती आई हम सब मौन ।
पर जिज्ञासा थी उर में यह किसका प्यार-दुलार
भरता रहता है जीवन में हरदम नया निखार ?
थी विह्वल आँखें कब देखें माँ का सौम्य स्वरूप
दमक रहा जो जैसे दमके नई गुलाबी धूप
लेकिन कभी नहीं हो पाया था सपना साकार ।
नमन करो स्वीकार ।
दूसरा युवा नारी स्वर—आज मुरादें पूरी दिल की हुईं, मिला यह प्यार ।
प्राण-रेत पर हुई उमंगों की मीठी बौछार ।
ठहरो, थाल सजाकर लाऊँ कर लूँ अर्जन-पूजन ।
आज धन्य हो गई दिया माँ तुमने पावन-दर्शन ।
प्रौढ़ नारी स्वर—लेकिन मैं न रुकूँगी ।
चली देखने हूँ सबको मैं, अब न अधिक ठहरूँगी ।
बेटी, अब न रुकूँगी ।

फूलो, फलो, खिलो, मुस्काओ।
अपनी ज्योति-किरण फैलाओ।
आज नये सुर से फिर कर लो जीवन का शृंगार।
बहाओ आज प्रेम की धार।
जो कुछ था दे चुकी तुम्हें सब।
बनो-ठनो तुम सब खुद ही अब।
आज वीण के तार-तार में भरो नयी झंकार।
जिन्दगी में फिर भर दो प्यार।

(वाद्य संगीत द्वारा अंतराल)

समवेत स्वर—आओ नाचें गायें।
आज जवानी के आँगन में मन का दीप जलायें।
आओ, नाचें, गायें।

नारी स्वर—दुनिया की यह रीत पुरानी ऋतु बदला करती है।
अवसर आने पर ही रीती गागर भी भरती है।
आज जवानी की लहरों पर हम डूबें-उतरायें।
आओ नाचें, गायें।

पुरुष स्वर—ये क्षण भंगुर रीति रस्म क्या इनसे लेना-देना?
हमें चाहिए खुश हो अपनी जीवन-नौका खेना।
आओ, पथ पर हम आशा के नूतन दीप जलायें।
आओ नाचें, गायें।

नारी स्वर—जीवन में ये सुख की घड़ियाँ रोज नहीं आती हैं।
हमें देखकर देखो, किरणें सोना बरसाती हैं।
हम भी देकर स्नेह सभी का पीड़ित उर सहलायें।
आओ नाचें, गायें।

दूरागत पुरुष स्वर—लेकिन गाना कैसा?
जब जीवन में जंग लगा हो तो मुस्काना कैसा?
सखि, यह गाना कैसा?
देखो, खलिहानों में जाकर कौन हवा चलती है।
देखो, कुटियों में दीपक की लौ कैसे बलती है।
देखो, जीवन पर कुरूपताओं के बादल छाये।
देखो, जाकर कैसे चिथड़ों में साँसें पलती हैं?
ऐसे क्षण में यह उन्मादक पर्व मनाना कैसा?
सखि, यह गाना कैसा?

दूसरा पुरुष स्वर—आओ, आकर तुम लोगों का पीड़ित उर सहलाओ।
आओ, हम भूले पथिकों को राह नयी दिखलाओ।
आओ, सब पर अपनी ममता की बूँदें बरसाकर।
बुझते हुए दीप में फिर से नूतन ज्योति-जगाओ।
केवल अपनी खातिर जग में जीते जाना कैसा?
सखि, यह गाना कैसा?

(वाद्य संगीत का अन्तराल)

समवेत स्वर—जागो आँखें खोलो।
ऐसे कब तक पड़े रहोगे? उठकर राह टटोलो।
जागो आँखें खोलो।

पुरुष स्वर—आँखों पर तृष्णा के बादल
करते हैं नित तुमको चचल
इन्हें हटाओ, कर्म क्षेत्र में साथ हमारे हो लो।
जागो, आँखें खोलो।

नारी स्वर—बाकी नहीं रही अँधियाली।
चमक रही ऊषा की लाली।
जगो, जगाओ ज्ञान-रश्मि से मन की आँखें धोलो।
जागो, आँखें खोलो।

पुरुष स्वर—जीवन शुष्क हुआ जाता है।
मेघ न अमृत बरसाता है।
अमृत पुत्र, तुम उठो जिन्दगी में,
अभिनव रस घोलो।
जागो आँखें खोलो।

दूरागत समवेत—हम जीवन को गढ़ने वाले।
हम न राह में कभी रुकेंगे।
हम कष्टों से नहीं झुकेंगे।
हम धरती के बेटे धरती की खातिर,
हम लड़ने वाले।
हम जीवन को गढ़ने वाले।
हमें भरोसा अपने बल का।
हम न माँगते भोजन छल का।
हम अपनी मेहनत का सम्बल ले,
सत-पथ पर बढ़ने वाले।

हम जीवन को गढ़ने वाले ।
हमें न कोई पथ में रोके ।
व्यर्थ नहीं यूँ आकर टोके ।
अपना विजयी झंडा ले हम आसमान पर चढ़ने वाले ।
हम जीवन को गढ़ने वाले ।

दूरागत क्षीण पुरुष स्वर—लेकिन क्या उपचार हमारा ?
तोड़ सकोगे कैसे कोमल कर से पापाणी कारा ?
बोलो, क्या उपचार हमारा ?

क्षीण नारी स्वर—हम अपना दम तोड़ रहे हैं ।
अपने जीवन का सुख सपना ।
हम किस्मत पर छोड़ रहे हैं !
बोलो ला पाओगे कैसे चीर शैल गंगा की धारा ?
बोलो क्या उपचार हमारा ?

समवेत पुरुष स्वर—हम न एक हैं, देखो यहाँ अनेक खड़े हैं ।
हम मजबूरी की जंजीरों से जकड़े हैं ।
हमें चाहिए खाना कपड़ा, हमें चाहिए भाषा ।
हमें चाहिए नयी जिन्दगी की नवीन परिभाषा ।
हम सब कुछ कर लेंगे लेकिन हमें राह दिखलाओ ।
भटक रहे हैं अन्धकार में,
हमें ज्योति दे जाओ ।

समवेत स्वर—आओ, भाई, आओ ।
हम लोगों के जंगी जत्थे में शामिल हो जाओ ।
आओ, भाई, आओ ।
इनकलाब करने वाले हम साथ हमारा दो तुम ।
आज लगा लो अपने माथे पर विप्लव का कुंकुम ।
हम मेहनत के बल पर नव संसार बसायेंगे ।
हम पत्थर की छाती से रसधार बहायेंगे ।
धरती पर हम लोगों का झंडा फहरायेगा ।
भौतिक तत्व हमारे आगे शीश झुकायेगा ।
आज हमारे पथ पर आकर हम से कदम मिलाओ ।
आओ, भाई, आओ ।

(संगीत द्वारा समाप्ति सूचना)

●

संगीत रूपक

ग्राम-श्री

•

वाचक— सूरज की वंशी पर किरणों के बोल
सुन करके आनंदित भुवन रहा डोल
शबनम की बूँद शुभ्र मोती-सी चमकी
कलियों की खुशबू पा फुलवारी गमकी
कोमल तरु किसलय को किरणों ने चूमा
पाकर के परस वायु का उपवन झूमा
लहरें गा उठीं गीत, नौकाएँ चंचल
फर-फर उड़ रहा खेत का झीना अंचल
सोने-सा चमक रहा सरिता का पानी
हवा बहुत ठंडी है, बड़ी ही सुहानी
जा रहे किसान गीत मेड़ों पर गाते
खेतों में गेहूँ के पौधे मुस्काते
फागुन का महिना यह बहुत भला लगता
खुशियों का सागर मन-प्राण में उमगता

नदी के बहने की आवाज़। तट पर नाविकों और नौकाओं का शोर।
कुछ युवकों और युवतियों की सम्मिलित आवाज़।

मोहन— हम लोगों की नाव कहाँ है ?
सोहन— वहाँ।
मीरा— किधर ?
मोहन —अरे वहाँ, उस ओर देखती नहीं यूनिवर्सिटी फ्लैग लगा है।
सोहन— जल्दी करो, सात बज रहे हैं।
प्रताप— सब लोग आ गये न ?
वीरेन्द्र— हाँ

नाव पर चढ़ने की आवाज। नाव खुलती है। किनारे की लहरों की धीमी धीमी छप् छप् ध्वनि।

प्रताप— बाँधो नहीं नाव, धारा में उसको बह जाने दो
तोड़ो नहीं कली जी भरकर उसको मुस्काने दो

लो पतवार सम्हालो, नैया बीच धार में डालो
होठों पर वंशी लेकर के बिखरे बोल सम्हालो
जीवन बहता पानी इसमें सुख-दुख सब बहता है
बंध करके यह एक जगह पर कभी नहीं रहता है
ऊपर-ऊपर से यह चंचल पर नीचे गहरा है
वही जान पाता जो इसमें जमा और ठहरा है

वीरेन्द्र— ज़ोर लगाओ ज़ोर लगाने से ही सब कुछ होता
जीवन ऐसा सागर जिसमें सभी लगाते गोता
इसके तल में छिपे रतन सब हीरा, मानिक, मोती
इसको वही प्राप्त कर सकता जिसमें क्षमता होती

बलवीर— जिसमें क्षमता होती वह ही जयी जगत में होता
जिसमें क्षमता नहीं प्राप्त कर भी वह सब कुछ खोता
ये लहरें छोटी-छोटी पर इनमें अद्भुत गति है
इनके भावों और क्रियाओं में समता-संगति है
जीवन तभी जयी होता जब भाव क्रिया बन जाते
दोनों एक रूप बन कर के जीवन-कुसुम खिलाते

वीरेन्द्र— जीवन कुसुम कष्ट के काँटों में खिल कर मुस्काता
वह जंजीरों में पड़ कर भी मुक्ति गान है गाता
जो करना चाहते ज़िन्दगी को समृद्ध वे जलते
दीपक बनकर शिखा रोशनी की दिन रात उगलते
उनकी ही साधना जगत को राह नई दे पाती
मानवता उनके पग चिह्नों पर नित शीश झुकाती
उनका सौरभ जग-उपवन में युग-युग तक लहराता
ऐसा ही वर मनुज धरा पर मृत्युंजय कहलाता

आवाज़ धीरे धीरे मंद होती जाती है। केवल पतवारों की आवाज़ सुनाई पड़ती है।

दूरागत ध्वनि— कोई बच्चों की पाठशाला है जहाँ पढ़ाई हो रही है

शिक्षक— एक साल में कितने महीने ?

शिष्य— बारह महीने।

शिक्षक— सब से अच्छा कौन महीना ?

शिशिर— फागुन।

शिक्षक— क्यों ?

शिशिर— फागुन बड़ा सुनहला मौसम सबको प्यारा लगता
एक अपूर्व उमंग लिये सब का मन-प्राण उमगता
इसके आते ही जाड़ा धीरे धीरे कम जाता
जीवन की बगिया में यह खुशियों के फूल खिलाता
आता होली जैसा रंगीला त्यौहार लिये यह
बौरा करके बाग बगीचे करने लगते मह-मह
रंग, अबीर, गुलाल, गीत सब हैं इसके हमजोली
इसी माह में सुनते पहले हम कोयल की बोली

गोविन्द— लेकिन मुझ को चैत महीना बहुत-बहुत भाता है
इसके संग हम लड़कों व बच्चों का गहरा नाता है
पकने लगते आम बाग है लड़कों से भर जाता
बच्चों का दल झूम-झूम कर गीत खुशी के गाता
रखवाली के लिए बहुत-सी झोंपड़ियाँ बन जातीं
पके फलों से लदी आम की डाल-डाल बल खाती
घर से ज्यादा समय बाग में रहने का मन होता
जाड़ा रहता नहीं; लगाओ खूब नदी में गोता

स्वर धीरे-धीरे मंद पड़ते जाते हैं, सिर्फ पतवारों की छप् छप् आवाज होती रहती है।

दूरागत ध्वनि— चैती

(१)

सुगना बोलै रे हमरी अटरिया हो रामा
कागा बोलै, कोइली बोलै अरे बोलेला मिगर जचा हो रामा सुगना
का तू कागा बोलिया बोलै अरे बलमा परदेसवा हो रामा। सुगना०

(२)

काहे फिरत बौरानी हो रामा सखि नैहर में।
आई गये तोरे गौने के दिनवां बहुत रहल अलसानी हो रामा
खेलत खात बरस बहु बीते सो अब ह्वै कहानी हो रामा

(३)

कौना मासे फुलेला गुलबवा हो रामा
कि कौना रे मासे।
बेला फूले, चमेली फूले अवरन फूलेला कचनरवा हो रामा
गेंदवा जे फूले रामा माघरे फगुनवां
चैत मासे फुलेला गुलबवा हो रामा

नाव आगे बढ़ती जाती है और स्वर मंद पड़ते जाते हैं

मीरा— यह गाँवों का सीधा सादा जीवन कितना सुन्दर
बाग, बगीचे, नदी, खेत लगते सब कुछ अति मनहर
रोज़ सुबह की उजली किरणों के संग सब जग जाते
बच्चे बूढ़े बैठ एक संग भजन-प्रभाती गाते
मुक्त पवन का झोंका मैदानों, खेतों से आता
छू कर तन के रोम-रोम को हर्ष नवीन जगाता
सूरज की किरणें सोना बन खेतों में बिछ जातीं
हरी घास पर सोई शबनम की बूँदें मुस्कातीं
कितना अच्छा लगता उनका भोला-भाला मुखड़ा
इन्हें देखकर सभी भूल जाते जीवन का दुखड़ा
सूरज उगता धूप जहाँ पर सभी वहाँ आ जुटते
बात-चीत में, खेल कूद में क्षण दो क्षण हैं कटते
फिर सब अपने काम काज में हो जाते हैं तत्पर
चल पड़ते खेतों को हलवाहे कन्धों पर हल धर
आगे-आगे बैल गले की घंटी बजती टुन-टुन
हलवाहे का मन उमंग में करने लगता गुनगुन

शीला— देखो दूर वहाँ घसियारिन घास काटती गाती
मैदानों खेतों में खुशियों के वन फूल खिलाती

धीरे-धीरे घसियारिन का स्वर समीप आता जाता है फिर वह स्पष्ट रूप से सुनाई देने लगता है।

मोरे गोरे बदन पर सब मोहे
सड़क पर गहली सड़कियऊ मोहे बाट चलत मोरु फिरउहो मोहे।
कुँवने पर गहलीं कुवनवां मोहे पानी भरत कँहरवऊहो मोहे।।
सेजिया पर गहलीं सेजरिया मोहे सेज सोअत बलमुवऊ मोहे
मोरे गोरे बदन पर सब मोहे

दूसरी— सुधिया न कीन्हे राजा हमरे सुरत की
अपुआ तो जाय के विदेशवा में छाये
पतिया न लिखे राजा हमरे न मन की।
जो सुधि आवै राजा तुम्हरे सुरति की
अँसुवा बहैं जैसे नदिया सवन की

स्वर धीरे धीरे पीछे छूटते जाते हैं। फिर पतवारों की छप् छप् ध्वनि होती रहती है। और अन्त में वह ध्वनि भी विलीन हो जाती है।

•

प्रणयः, बारीकियाँ, उलझाव और पलायन

•

न जाने उसे क्या हो गया है ? बड़ी खुश है ! मुझे डर लगता है ! उसकी राह मेरी राह काटती जो है। संवेग का रथ मुझे प्रिय नहीं। धीरे-धीरे पैदल चलना अच्छा लगता है। राह की प्रत्येक वस्तु ध्यान से देखता हूँ।

बात यहाँ तक बढ़ गई ? खत भेजने की क्या जरूरत थी ? सो भी बच्चे के हाथों ? पकड़ाने पर क्या हो ? मुझे फुर्सत कहाँ है ? इक्वेशंस हल करने हैं, चित्र बनाया है, फिनिशिंग टच देना है। तूली मोटी, रूखड़ी और बेडौल है, रंग भूरे और मटमैले हैं। भाभी को शिकायत है। पेंटिंग क्या चूं चूं का मुरब्बा है !

बात सीधी-सी है। पूर्ण विराम के बाद डैश देना मुझे पसन्द नहीं है, जिन्हें पसन्द हो, वे दें। जिन्दगी में सब कुछ रबर नहीं कि खींचने से बढ़ता चला जायेगा। सुबुक नाक मुझे प्रिय है। इसका दूसरा अर्थ न लें। मैं तटस्थ हूँ।

टा......टा......बच्चे भी अजीब होते हैं। मुझे प्रिय हैं। क्या उनको मेरी इस कमजोरी का पता है ? आग्रह अधिक है तो सामने आइये, ईमानदारी का हवाला खूब देती है। फिर यह प्रवंचना क्यों ? नयी कविता कब से रचने लगी ? छन्द बेडौल और भाषा भ्रष्ट होती है। चित्र तो फोटोग्राफर देता है।

केन्द्र से च्युत होना बुरा नहीं। इम्तहान के दिन बीत गये। क्लास में लेक्चर झाड़ता हूँ। बात को रंगीन बनाने में मज़ा आता है। आखिर इन सब का क्या मतलब ? ब्लैक मेलिंग अपराध है। कविता लिखने के लिए सपाट गद्य चाहिए।

दाढ़ी बढ़ा लेना बुरा क्या है ? शॉ ने भी ऐसा ही किया था। समय की बचत होती है। कोलतार से पुती हुई सड़क अच्छी लगती है। कदली-वन का अर्थ ? डिक्शनरी देखिये। व्यंजना निकृष्ट कोटि का अर्थ है। फालतू बातों में वक्त जाया न कीजिये।

सबकी मति मारी गई है। जमशेदपुर में गोलियाँ चलीं, असेम्बली में

अविश्वास का प्रस्ताव आया। समाचार के कीड़े बदन पर रेंगते रहें, कोई असर नहीं। सबके सब मुर्दे हैं। आपको यह क्या खटराग सूझा ? गार्जियन हैं तो क्या ?

२

क्या यह एक आकस्मिक संयोग नहीं है कि उसका नाम रेखा है ? ऐसा तो अक्सर ही होता है कि किसी उपन्यास की नायिका का नाम वास्तविक जगत में किसी न किसी स्त्री के नाम से मिल जाता है। तो क्या यह आवश्यक है कि उपन्यास के काल्पनिक चरित्र को जीवित चरित्र पर आरोपित कर दिया जाय ? जिस प्रकार 'नदी के द्वीप' की 'रेखा' 'नदी के द्वीप' की रेखा ही रहेगी, बदलेगी नहीं, उसी प्रकार यह भी तो सही है कि यह रेखा यही रहेगी। तो फिर इसके आगे उस रेखा की चर्चा क्यों ?

वास्तविक जीवन में एक नाम की कितनी ही स्त्रियाँ हो सकती हैं। होती ही हैं। लेकिन तब नाम किसी की बपौती नहीं हो जाता। लेकिन जब कोई उपन्यासकार किसी नाम का एक विशेष चरित्र अपनी पुस्तक में ले आता है, और यदि चरित्र कुछ अन्यथा हुआ, तो वह नाम हमारे लिए त्याज्य हो जाता है। रावण, कुम्भकर्ण, कंस आदि नाम अब नहीं रखे जाते। इसी प्रकार कोई अंग्रेज़ इयागों और शाइलॉक नाम रखना पसन्द नहीं करेगा। तो क्या यह प्रमाण नहीं है कि बड़े लेखकों ने ये नाम हम से सदा सदा के लिए छीन लिये ? अब कोई पिता, यदि उसने 'नदी का द्वीप' पढ़ा है, पुत्र का नाम भुवन और चन्द्रमाधव और पुत्री का नाम रेखा नहीं रखना चाहे तो उसका क्या दोष ?

पूर्णिमा का चाँद सामने है और मन भटक रहा है। कई दिनों से पढ़ना-लिखना बिल्कुल ठप्प है और तबीयत होती है कि अनजाने, अनचीन्हे लोगों से घिरा बैठा रहूँ और वे अजीबो-गरीब प्रश्न करते रहें और मैं टालम-टोल की मुद्रा में उत्तर देता रहूँ। बड़े अजीब से ख्याल हैं ये, लोग ऐसा सोच सकते हैं। लेकिन ऐसे क्षणों में दूसरे मेरे बारे में क्या सोचते हैं यह सोचना भी बुरा लगता है। तबीयत होती है कि अपने को बलात् अपने परिवेश से काट कर अलग कर लूँ और कुछ मनमानी करूँ। चूँकि मनमानी करने की सुविधा नहीं है, और अब समय भी नहीं रहा, इसलिए सोचने में ही सुख मिलता है।

३ मई सन् १९५५

आज का दिन याद रहेगा। सोचता हूँ, साल के तीन सौ पैंसठ दिन एक जैसे ही तो होते हैं। लेकिन उनमें से कोई एक दिन इतना विशिष्ट कैसे

हो जाता है ? एक जैसी सुबह, शाम और एक जैसी दोपहर । लेकिन फिर भी कोई विशेष दिन लाखों की भीड़ में अलग से पहचाना जाता है ।

सुबह उठते ही लगता है मन सिरे से बदल गया है । बात यहीं तक हो तो गनीमत है । कमरे में जिस चीज़ पर दृष्टि डालिये, वही बदली हुई नज़र आयेगी । अभी परसों नया टेबुल लैम्प खरीदा था । साथ में दो-चार दोस्त थे । सबने एक स्वर से अच्छा कहा था । तुरन्त ले लिया था । लेकिन कमरे में आने पर रुचि विद्रोह कर बैठी थी । स्टैण्ड ज़रा फैशनेबुल था । चिकने संदली रंग के काष्ठ पर गहरी नक्काशी थी । मैं स्वभावतः ही जीवन में सादगी का कायल हूँ । फिर दूसरों के कहने में क्यों आ गया ? मेरी अन्य चीज़ों से, जो निश्चय ही सरल और सहज हैं, इसका ताल-मेल नहीं बैठता । तो क्या यह लैम्प सबूत नहीं है कि यह मेरी रुचि में किसी अन्य का हस्तक्षेप है ? लेकिन आज सुबह उठते ही जब स्टैण्ड पर दृष्टि पड़ी तो मैं मुस्कुरा पड़ा। स्यात् स्टैण्ड भी मुस्कुराया होगा । और फिर वे तमाम चीज़ें जो मुझे नापसन्द हैं, अच्छी लगने लगीं ।

जीवन में अरुचि उत्पन्न करने वाली अनेक बातें हैं । लेकिन वे सब हार जाती हैं रुचि की एकाध बात के सामने । मसलन आपकी पत्नी को टेबुल पर गुलदस्ते रखने का शौक है जिससे आपको कोफ्त है । फिर वह उसमें फूल भी रखती है—फूल जो रोज़ बाग से तोड़कर लाये जाते हैं । यह भी आपको ना-पसन्द है । यदि रंग और शोभा ही चाहिए तो आजकल प्लास्टिक के फूल मिलते हैं जिन्हें रोज़-रोज़ बदलने की ज़रूरत नहीं । लेकिन वे आपकी बात मानती नहीं । आप सौन्दर्य बोध से हीन हैं, यह बात नहीं । गुलदस्ते आपकी मेज पर रहते हैं और काफ़ी जगह घेरते हैं । यही दिक्कत है लेकिन आप ये सभी बातें सह लेंगे यदि आपकी पत्नी रोज़ ही किताबों और पत्र-पत्रिकाओं की अव्यवस्था दूर करदें और लिखने-पढ़ने के सारे सामान इस प्रकार रख दें कि ढूँढने के साथ ही मिल जायें ।

जीवन में विरोधी बातें बहुत हैं । अकेले तबीयत नहीं लगती है । पार्कों और मैदानों की ओर निकल जाना चाहता हूँ, लोगों की भीड़ में खुद को खो देना चाहता हूँ । लेकिन भीड़ में भी अकेलेपन का बोध होता है । बोध होता है, यह कहना गलत है । बोध स्थायी है जो भीड़ में तीव्र हो जाता है । कमरे का अकेलापन जाना पहचाना होता है, भीड़ का अकेलापन अजनबी और कुछ दूर तक कातर और त्रस्त करने वाला । निपट अकेले होने पर मन कई प्रकार से बहला सकता हूँ । मेरी ही बात लीजिये; मैं आईना ले लेता हूँ और खुद को मुँह चिढ़ाता हूँ । भीड़ में ऐसा नहीं कर सकता । लोग-खब्ती समझेंगे ।

आधुनिक सभ्यता के दौरान में भीड़ बढ़ी है इसलिए अकेलेपन का बोध भी बढ़ा है।

(३)

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने ब्रिटिश कालीन भारतीय मनोदशाओं का उल्लेख करते हुए '*हिन्दुस्तान की कहानी*' में लिखा है—"ब्रिटिश राज के अन्दर हिन्दुस्तान में जो सबसे अहम लहर थी, उसमें डर, कुचलने वाला, दम घोटने वाला, मिटा देने वाला डर था, फौज का, पुलिस का, चारों तरफ फैले हुए खुफिया विभाग का डर था, अफसरों की जमात का डर था, कुचलने वाले कानूनों और जेल का डर था, जमींदार के कारिन्दों का डर था, साहूकार का डर था, बेकारी और भूखे मरने का डर था जो हमेशा ही नज़दीक बने रहते थे।" (पृ० ४४५) तो क्या स्वतन्त्र भारत में यह भय समाप्त हो गया ? आज भय की मात्रा कम भले ही हो गई हो, उसके प्रकारों में परिवर्तन भले ही हो गया हो, जन-जीवन पर उसका वैसा असर भले ही न रहा हो, लेकिन वह है, और है अब अधिकतर पढ़े लिखे लोगों के बीच। असफलताओं का डर, असुखता का डर, दिशाहीनता और दायित्व-हीनता का डर, अनिर्णय और असमंजस का डर और ऐसे ही अनेक रूपों में। अब वह उस वर्ग को परेशान कर रहा है जिसने कभी जन-जीवन से डर को मिटा डालने का बीड़ा उठाया था, वास्तव में जिस समय गांधी जी और उनके नेतृत्व में चलने वाली कांग्रेस या अन्य राजनीतिक संस्थाओं और उसके कार्य-कर्त्ताओं का भारतीय जन-जीवन के बीच आगमन हुआ उस समय तक जनता डरी हुई थी। लेकिन ये लोग, जो उसे जगाने आये थे, निडर थे, और आशा, उत्साह और विश्वास और संकल्प से पूरित थे। और इसका जन-जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। जनता का भय भागा और वह निर्भय हो गई। लेकिन आज वही निर्भय जनता देख रही है कि तब का डर खत्म करने वालों में अब एक अजीब तरह का डर, जड़ता और निष्क्रियता और भय घर करता जा रहा है। और बहुत से थोड़ों में तो अब उसे आधुनिकता के नाम से प्रचारित कर उपयुक्त ठहराने की भी चेष्टा की जा रही है—जैसे साहित्य के क्षेत्र में। ऊपर जिन प्रकार के डरों की चर्चा की गई है, अब तो उसे आधुनिकतम मानव की नियति मानकर सर्वत्र स्वीकार कर लेने का भाव ही प्रधान दिखाई पड़ने लगा है। शायद मुर्दा कौम की पहचान ही यही है कि वह अपने दुर्गुणों को भी अपनी स्वाभाविक नियति मान लेता है और उसे विश्व और युग-प्रपंच का एक हिस्सा मानकर संतोष कर लेती है। यदि भारतीय साहित्य की आधुनिक धाराओं की छानबीन की जाय तो यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि एक अजीब भय, संशय और अनिश्चय का

वातावरण सर्वत्र व्याप्त है। और इन सब के प्रति कोई क्षोभ, कोई तिक्तता और उपेक्षा का वातावरण नहीं है। अपितु, इन सबके प्रति हमारा दृष्टिकोण ठीक उसी बन्दरिया का सा है जो अपने मरे बच्चे को सीने से चिपकाये हुए घूमती है।

आजादी मिलने के बाद कालचक्र की गति, यहाँ भारतवर्ष में, लगता है, ठीक उल्टी हो गई है। जब यहाँ अंग्रेज़ों का शासन था तो उन्होंने बराबर इस बात की कोशिश की कि हमें बाकी दुनिया से अलग रक्खा जाये। इसके लिए उन्होंने अपनी नीतियों का, अपने शासन यंत्रों का, भय और अत्याचार का एक मोटा खोल तैयार किया और हमें उससे बराबर ढके रहने की कोशिश की। लेकिन वे अपनी कोशिश में कामयाब नहीं हुए। हमने उन परिस्थितियों में रहकर भी अपनी साँसों को आज़ाद रक्खा, उन्हें घुटने नहीं दिया, दृष्टि धुँधली नहीं होने दी, स्वाभिमानी सिर को, छोटे-छोटे छिद्रों से ही सही, खुली हवा में बाहर फैलाये रखा और ताज़ी हवा का स्पर्श और स्वाद लिया। लेकिन आज़ादी मिलने के बाद हम बिना किसी प्रयास के खोल में बन्द हो गये, दीर्घकाल तक बन्द रहे। हमें अपनी इस दशा का भान तक नहीं हुआ। और पता तब चला, जब विदेशी ताकत ने हमारी सरहदों पर हमला किया और हमारे भूतपूर्व प्रधान मंत्री को यह कहना पड़ा कि हम एक बनावटी खोल में रह रहे थे, शुक्र है कि चीनियों ने हमला करके हमें उस खोल से बाहर आने पर मजबूर किया है।

कालचक्र की उल्टी गति यहीं तक सीमित नहीं है। जब सुरक्षा के लिए युद्ध करना आवश्यक हो गया और उसके लिए सरकार को लम्बी फौजी तैयारी करने को बाध्य होना पड़ा तो इस बात की उम्मीद की जाती थी कि जन-जीवन में एक अपूर्व उत्साह स्पन्दन और स्फूर्ति का अनुभव होगा और जनता और सरकार एक जुट होकर प्रगति और सुरक्षा के पथ पर आगे बढ़ेंगी। लेकिन ऐसे समय कालचक्र की उल्टी गति का फिर बड़ा तीव्र अहसास हुआ। आपत्काल के नाम पर, सुरक्षा नियमों का हवाला देकर, फिर एक ऐसा वातावरण तैयार किया गया कि हम अपने को कई दशक पीछे अनुभव करने लगे। सरकारी नीतियों के ईमानदार आलोचक गद्दार और उसके चापलूस और स्वार्थी पोषक देशभक्त कहे जाने लगे। अब तो हालत यह है कि जो ईमानदार हैं, उनसे कुछ करते और कहते नहीं बनता और बेईमानों को पूरी और खुली छूट है। इसलिए मैंने कहा कि कालचक्र की गति यहाँ भारतवर्ष में इन दशकों में आकर ठीक उल्टी हो गई है। लेकिन बात यदि यहीं तक होती तो गनीमत थी। हममें से बहुत कम को इस उल्टी गति का तीव्र अहसास है।

फेंटेसी

छायाओं के घेरे में

•

बात बड़ी अजीब-सी है। सम्भव है, आप विश्वास न करें। लेकिन मैं कहूँगा अवश्य। सुन लेने के बाद, सम्भव है, आपको इसमें सचाई मालूम हो।

प्रातःकाल जब भी मैं सोकर उठता हूँ और बिछावन छोड़कर फर्श पर पांव रखना चाहता हूँ तो लगता है कमरे में कहीं कोई सुगबुगाहट है। लगता है, वहाँ सिर्फ मैं ही नहीं हूँ और भी सैंकड़ों प्राणी हैं जिनका रूप नहीं है, रंग नहीं है, आकार नहीं है पर अस्तित्व रूप में वे हैं अवश्य। कमरे में जो एक उष्णता व्याप्त है, लगता है यह उन्हीं की सांसों का सम्मिलित प्रभाव हो। देर तक फर्श पर पाँव टिकाये चारपाई पर बैठा रहता हूँ। लगता है धीरे-धीरे सुगबुगाहट कम हो गई है, सब कुछ खामोश हो रहा है। लेकिन ज्यों ही पाँवों में चप्पल डाल खड़ा होता हूँ, लगता है कमरे में फिर एक हलचल व्याप गई है, छायाओं का क्रम बेतरतीब हो उठा है, सब मेरा अनुगमन करने को उद्धत हैं। यह सब कुछ मेरी समझ में नहीं आता। बहुत बार सोचा कि गौर करके देखूँ और जानने की चेष्टा करूँ कि आखिर ये कौन हैं, क्यों मेरे पीछे पड़ी हैं ? लेकिन कई कारणों से यह सम्भव नहीं हुआ।

कमरे से बाहर आता हूँ तो उस समय कुछ कुछ धुंधलका रहता है। ऐसे में भ्रम होना स्वाभाविक है। लेकिन भ्रम मानसिक ऊहापोहों के समक्ष नहीं टिकता। इसलिए मुझे लगता है कि यह भ्रम नहीं है। रोज ही तो ऐसा अनुभव होता है। छायाएँ उतनी असत्य नहीं हैं जितनी दीखती हैं। इनके पीछे कोई न कोई अलक्षित, अकूल और अनामा अन्तर्धारा व्याप्त है।

जैसे ही शौचादि से निवृत्त होकर बाथरूम में प्रवेश करता हूँ, लगता है अभी अभी वहाँ कोई था जो मुझे आता देख हट गया है। सम्भव है वह भी स्नान की तैयारी में रहा हो। मुझे बाथरूम में देख वह निकल नहीं जाता, वहीं किसी कोने में दम साधे खड़ा रहता है। टुकुर-टुकुर देखता है। यह ठीक है कि नल खोलते ही धारा के तीव्र रव में क्षण भर के लिए भूल जाता हूँ लेकिन उन अरूप अस्तित्वों का ख्याल तो रहता ही है। जो ठीक आपके सामने दम साधे खड़ा हो, उसे आप नकार भी कैसे सकते हैं ? कभी

कभी तो मन में बड़ा कौतूहल हुआ है। स्नानगृह के सभी कोनों अतरों में ठंडे जल के छींटे मारने की चेष्टा की है। लेकिन जब एक कोने की ओर उन्मुख हुआ हूँ तो लगा है कि वह सरककर दूसरे कोने चला गया है। जब दूसरे कोने की ओर उन्मुख हुआ हूँ तो लगा कि वह तीसरे कोने में जाकर गुम हो गया है। कभी-कभी लगा कि यह मेरे मन का भ्रम है। ऐसा समझकर मन को खूब मजबूत किया है, चारों ओर खूब घूर-घूर कर देखा है। कहीं कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय कर तौलिये से बदन पोंछने लगा हूँ। लेकिन इसी बीच लगा है कि कहीं कोई सुगबुगाहट है। आप सच मानिये, ये निरी बातें नहीं हैं।

बाथरूम से आकर कपड़े पहन दफ्तर जाने के लिए तैयार हुआ हूँ। मिन्नी चाय लेकर आई है। सुबह की गरम-गरम चाय यों भी प्रिय होती है। फिर मिन्नी के हाथों दी गई प्याली का कहना ही क्या ? उमंग के साथ प्याला लेता हूँ और सिप करता हूँ। नज़र उठाकर मिन्नी को देखना चाहता हूँ। उसका अलसाया चेहरा भला लग रहा होगा। लेकिन कोने में फिर उन्हीं अज्ञात, अलक्षित छायाओं को देखकर चिहुँक उठा हूँ। यह बात दूसरी है कि वे टुकुर-टुकुर देख नहीं रही हैं शीत, उनमें भी है, लेकिन उनकी उपस्थिति ही मुझे हौल दिल कर देने के लिए काफ़ी है। मैं मिन्नी से ये बातें नहीं कह सकता। वह यों भी मुझे खब्ती समझती है। लाख कसमें खाकर भी मैं उसे इन छायाओं का विश्वास नहीं दिला सकूँगा। वह चेहरे की व्यग्रता को भाँपे नहीं इसलिए चाय जल्दी-जल्दी खत्म करता हूँ। घर की देहरी से पाँव उठाता हूँ तो लगता है कोई मेरे साथ हो गया है। गली के धुंधलके में वह साथ चलता है। आजिज होकर कभी-कभी कदम तेज़ कर देता हूँ, लेकिन इससे स्थिति में कोई अंतर नहीं आता। वह अपने को मेरे अनुकूल बना लेने में पीछे नहीं है। अपने आप पर कोफ्त होती है। लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे ? कभी तेज़ और कभी धीमे चलने में कौन सी तुक है ?

बस स्टैण्ड तक आते-आते लगा है, मैं उसें काफ़ी पीछे छोड़ आया हूँ। बस आती है। सुबह के नाते भीड़ कम है। मैं झटपट उचक कर सवार हो जाता हूँ। लगता है, छायाएँ सदा के लिए पीछे छूट गई हैं, वे मुझे नहीं छू सकतीं। रह रह कर कण्डक्टर पर झुंझलाहट होती है। जितनी जल्दी हो, बस स्टार्ट हो जाने दे। न जाने क्यों जी धुक्-धुक करता है। बार-बार रास्ते की ओर देखता हूँ। लेकिन कहीं कोई नामोनिशान नहीं है। सच ही छायाएँ पिछड़ गई हैं।

बस स्टार्ट हो जाती है। चैन की साँस लेता हूँ। इतने लोगों के बीच

मैं ही इतना अशान्त हूँ। अपने आप पर क्षोभ होता है। ज़रूर मुझमें कहीं कोई ऐब है, नहीं तो ऐसा क्यों होता ?

बस रुकती है। दफ्तर सामने ही है। जल्दबाजी में उतरता हूँ। सड़क क्रॉस कर आफ़िस की सीढ़ियों पर पाँव रखता हूँ लेकिन यह क्या ? वे ही लम्बी, दुबली, पतली छायाएँ ? हाँ, वे ही तो हैं ! कोई सन्देह नहीं। मैं उन्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ। गलती हो ही नहीं सकती। तो कमबख्त आ ही गईं ? मैं तटस्थ होने की चेष्टा करता हूँ। आखिर ये मेरा क्या बिगाड़ सकती हैं। मैं कमरे में पहुँच कर साथियों के अभिवादन का उत्तर देता हूँ और अपनी कुर्सी पर जा बैठता हूँ। फिर काम का चक्कर शुरू होता है।

फ़ाइलों से जब भी क्षणभर की छुट्टी मिलती है, मैं अपने चारों ओर देखने की चेष्टा करता हूँ। वे सब की सब मेरी मेज़ और दीवार के कोनों से सटी चुप हैं। कहीं कोई आवाज़, हरकत या हलचल नहीं। लगता है कोई पेपरवेट गिर गया है और निस्पन्द है। लेकिन मैं जानता हूँ कि मौन क्षणिक है। मेरी कोई भी हरकत उनमें गति ला देने के लिए काफी है।

शाम होने पर चलने के लिए प्रस्तुत होता हूँ तो कोने में कम्पन होता है, मृत अस्तित्व सजीव हो जाते हैं। कुत्ते की तरह पूँछें हिलाती वे साथ चल पड़ती हैं। कभी आँखों से ओझल हो जाती हैं लेकिन छूटती हरगिज नहीं। घर आने पर मेरे साथ साथ लगी डोलती हैं। उनके सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं जानता—माँ, बाबूजी, मित्री कोई भी नहीं। लेकिन मैं उन्हें कैसे नकार सकता हूँ। वे तो मेरे अस्तित्व से अभिन्न-सी हैं। मुझे उनसे प्रतिदिन जूझना होता है। वे मेरे सिरहाने माला के मनकों की भाँति डोलती हैं। उनका एक अटूट व्यूह है जो मेरे सर्वांश को घेरे हुए हैं।

पहले बहुत असुविधा होती थी। बात बात में अपने को बँधा-सा महसूस करता था। लेकिन अब तो सब कुछ का आदी हो गया हूँ। कहने की बात तो थी नहीं लेकिन आप कुछ इतने निकट हैं कि कह रहा हूँ। यदि आप इनमें कुछ सच्चाई पा सकें तो सम्भव है, मेरा कहना सार्थक हो।

●

सहायक ग्रंथों की सूची

क्र.	ग्रंथ	लेखक	प्रकाशक
१.	हिन्दी साहित्य कोप	प्र. सं. डा. धीरेन्द्र वर्मा	ज्ञानमण्डल वाराणसी
२.	साहित्य शास्त्र का पारिभापिक शब्द कोप	श्री राजेन्द्र द्विवेदी	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली
३.	साहित्यानुशीसन	शिवदानसिंह चौहान	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली
४.	कथा के तत्व	डा० देवराज उपाध्याय	ग्रंथमाला कार्यालय पटना
५.	रेडियो नाट्य शिल्प	डा० सिद्धनाथ कुमार	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी
६.	फ़ॉल ऑफ़ पेरिस (हि. सं.)	इलिया एहरेन बुर्ग	किताब महल, इलाहाबाद
७.	प्रगति और परम्परा	डा० रामविलास शर्मा	किताब महल, इलाहाबाद
८.	साहित्य विवेचन	श्री क्षेमचन्द्र सुमन, योगेन्द्रकुमार मल्लिक	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली
९.	एन इण्ट्रडक्शन टू दी स्टडी ऑफ़ लिटरेचर		
१०.	काव्य रूपों के मूल स्त्रोत और उनका विकास	डा० शकुन्तला दुबे	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
११.	संस्मरण	श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी
१२.	रेखा चित्र	श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी
१३.	वंशी और मादल	श्री ठाकुरप्रसाद सिंह	नया साहित्य प्रकाशन इलाहाबाद

१४.	वनफूल	प्रो. रामसंजीवनप्रसाद सिंह	
१५.	देहाती दुनिया	श्री शिवपूजन सहाय	राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
१६.	काव्य धारा	सं. शिवदानसिंह चौहान	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली
१७.	आलोचना	सं. नन्ददुलारे वाजपेयी	राजकमल प्रकाशन दिल्ली
१८.	रश्मिबंध	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	राजकमल प्रकाशन दिल्ली
१९.	लोहे के पंख	हिमांशु श्रीवास्तव	ज्ञानपीठ प्रा० लि०पटना
२०.	नदी बह चली	हिमांशु श्रीवास्तव	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी
२१.	मैला आँचल	फणीश्वरनाथ रेणु	राजकमल प्रकाशन दिल्ली
२२.	परती-परिकथा	फणीश्वरनाथ रेणु	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२३.	डायरी के नीरस पृष्ठ	इलाचन्द्र जोशी	
२४.	कालेज जीवन की डायरी	डा० धीरेन्द्र वर्मा	साहित्य भवन, इलाहाबाद
२५.	हिन्दी कहानी की शिल्प विधि का विकास	डा. लक्ष्मीनारायण लाल	साहित्य भवन, इलाहाबाद
२६.	दिगन्त	श्री त्रिलोचन शास्त्री	जगत शंखधर, काशी
२७.	ब्रह्मपुत्र	देवेन्द्र सत्यार्थी	राजकमल प्रकाशन दिल्ली
२८.	वन लक्ष्मी	योगेन्द्रनाथ सिन्हा	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
२९.	वन के मन में	योगेन्द्रनाथ सिन्हा	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली
३०.	उग्रतारा	नागार्जुन	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली

३१. मानविकी पारिभाषिक कोष (साहित्य खण्ड)	प्र० सं० डा० नगेन्द्र	राजकमल प्रकाशन दिल्ली
३२. नयी धारा (नलिन स्मृति अंक और शिवपूजन सहाय स्मृति अंक)	सं० उदयराजसिंह	अशोक प्रेस पटना
३३. परिषद् पत्रिका (नलिन स्मृति अंक)	सं० डा० माधव	राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना